सत्यमेव जयते

भारत का विधि आयोग

एक सौ सत्ताइसवीं रिपोर्ट

न्यायिक प्रशासन में अवसंरचनात्मक

सेवाओं के लिए

संशोधन आवंटन

(न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन : एक रूपरेखा से संबंधित रिपोर्ट का सातत्यक)

विषय वस्तु पृष्ठ

अध्याय 1 प्रारम्भिक 1

अध्याय 2 न्यायालय : परिवर्तनशील भूमिका 3

अध्याय 3 न्यायालय सुविधाएं : जनशक्ति और सामग्री 8

अध्याय 4 न्यायालयों के लिए वित्तीय उपशामक 18

अध्याय 5 अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध करना 23

टिप्पण और निर्देश 33

उपाबन्ध - 1 प्रश्नावली . . . . . .

उपाबन्ध - 2 राज्यों द्वारा दिया गया आय-व्यय अनुपात . . . .

उपाबन्ध - 3 योजना आयोग द्वारा दिया गया आय-व्यय अनुपात . . .

उपाबन्ध - 4 उच्च न्यायालयों द्वारा भेजे गए उत्तरों का सारणीकरण . . .

उपाबन्ध - 5 (1) आय और व्यय का विवरण . . . . .
(विधि आयोग की 120 वीं रिपोर्ट का उपाबन्ध 1 (3) . . .

उपाबन्ध - 5 (2) आय और व्यय का विवरण (योजना आयोग के 1981-82 के आंकड़े)

उपाबन्ध - 5 (3) आय और व्यय का विवरण (राज्यों द्वारा दी गई जानकारी, 1981-82)

अर्द्ध०शास०सं० 44(3)/86-वि०आ० भाग 2

डी०ए० देसाई
अध्यक्ष

विधि आयोग,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली।

14 जून, 1988

श्री बिन्देश्वरी दुबे,
विधि और न्याय मंत्री,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली,

प्रिय श्री दुबे,

मुझे विधि आयोग की 127वीं रिपोर्ट, जो "न्याय प्रशासन में अवसंरचनात्मक सेवाओं के लिए साधन आवंटन" के संबंध में है, प्रेषित करते हुए प्रसन्नता है।

इस रिपोर्ट को पूर्ववर्ती दो रिपोर्टों में समाविष्ट पैकेज के भाग के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। इस आवलि में प्रथम रिपोर्ट "न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन : एक रूपरेखा" जो विधि आयोग की 120वीं रिपोर्ट थी और जिसके द्वारा आगामी पांच वर्षों में न्यायाधीश : जनसंख्या के अनुपात को पुनरीक्षित करने की सिफारिश की गई थी। यह सिफारिश कार्यान्वित की जाने पर, प्रत्येक स्तर पर अधिक न्यायाधीशों के चयन और भरती के लिए एक अधिकरण की आवश्यकता होगी। मुझे यह पढ़ कर प्रसन्नता हुई कि उस रिपोर्ट में की गई सिफारिश के एक भाग को स्वीकार कर लिया गया है जब विधि और न्याय राज्य मंत्री ने हाल ही में यह घोषणा की कि भारत सरकार ने निकट भविष्य में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की वर्तमान संख्या 390 को बढ़ाकर 533 करने का निश्चय किया है। यह सिफारिश का मात्र एक भाग है और मुझे आशा है कि दूसरा भाग भी शीघ्र कार्यान्वित किया जाएगा।

प्रशासन में सहायता देने के लिए विधि आयोग ने "ए न्यू फोरम फार जुडिशियल एपाइन्टमेन्ट्स" पर एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की है जो विधि आयोग की 121वीं रिपोर्ट है। अब चूंकि न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि की जा रही है, उस रिपोर्ट में सिफारिश किए गए अनुसार, नये अधिकरण की स्थापना को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

पूर्वोक्त दो रिपोर्टें कार्यान्वित कर दी जाने पर, स्वाभाविक परिणामस्वरूप समस्त स्तरों पर न्यायालयों का विस्तार होगा और इसके साथ ही न्यायालयों से संबद्ध अनुसचिवीय कर्मचारिवृन्द, न्यायालय भवनों और सम्बद्ध सुविधाओं का भी। वर्तमान रिपोर्ट न्यायिक प्रशासन में अवसंरचनात्मक सेवाओं पर अतिरिक्त व्यय के लिए संसाधन खोजने और उनके आबंटन से संबंधित है।

इस रिपोर्ट में, विधि आयोग ने अधिक न्यायालय भवनों अन्य विस्तारित सुविधाओं और विस्तारित न्यायालयीन सेवाओं के लिए अतिरिक्त अनुसचिवीय कर्मचारिवृन्द की समस्या पर विचार किया है। अतः निश्चित रूप से, शीर्ष न्यायिक प्रशासन के अन्तर्गत केन्द्र और राज्य दोनों ही स्तरों पर राजकोष से अधिक मांग की जाएगी। साधनों की विवशता से अवगत होने के कारण इस रिपोर्ट में उन क्षेत्रों के संबंध

में भी विचार किया गया है जिसने अधिक निधियां प्राप्त हो सकती हैं जो विनिर्दिष्टतः न्यायिक प्रशासन के लिए निश्चित की जा सकती हैं। इन सभी पहलुओं पर इस रिपोर्ट में व्यापक रूप से विचार किया गया है।

अतः मैं अनुरोध करूंगा कि इसमें चर्चित सभी तीन रिपोर्टों को एक पैकेज के रूप में समझा जाए और उन्हें लगभग एक साथ कार्यान्वित किया जाए क्योंकि एक के अभाव में दूसरी विकृत चित्र प्रस्तुत कर सकती है।

सादर ;

भवदीय
(डी० ए० देसाई)

संलग्न : एक रिपोर्ट

अध्याय 1

प्रारम्भिक

1.1. जबसे मनुष्यों ने एक दूसरे के साथ पारस्परिक संबंधों और मानव भाग्य-परिवर्तन के बारे में चिन्तन करना प्रारंभ किया, तभी से वे न्याय के अर्थ खोजने के लिए चिन्ताग्रस्त रहे हैं और प्रचलित धारणा यह रही है कि न्याय केवल न्यायालय के माध्यम से प्राप्त हो सकता है। इसी बात से न्यायालय प्रणाली को विश्वसनीयता और सम्मान प्राप्त होता है। किन्तु किसी अन्य संस्था की भान्ति इस प्रणाली को यह सेवा प्रदान करके सतत अपना औचित्य प्रतिपादित करना होगा जिसकी उससे आशा की जाती है। जिस क्षण वह असफल हो जाती है या डगमगा जाती है, उसकी विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा का ह्रास हो जाता है। कार्यशील लोकतंत्र के लिए, जहां राज्य के विरुद्ध भी न्याय प्राप्त किया जाता है, न्यायालय प्रणाली एक पूर्व अपेक्षा है। अतः जब भी न्याय प्रणाली पर असहनीय भार आ जाता है, तब उसे कार्यक्षम और लोक तथा परिणाम मूलक बनाने की दृष्टि से उसका पूर्ण-रूपेण पुनः परीक्षण और पुनर्गठन करने की आवश्यकता होती है[1]।

1.2. मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा में यह उपबंध है कि :

> "प्रत्येक व्यक्ति को संविधान द्वारा या विधि द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों का अधिक्रमण करने वाले कार्यों के लिए सक्षम राष्ट्रीय अधिकरण से प्रभावी उपचार प्राप्त करने का अधिकार है।"[2]

इस घोषणा के आधारभूत मूल सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए विधि आयोग ने निम्नानुसार विचार व्यक्त किए थे :

> "समानता न्यायशास्त्र की समस्त आधुनिक प्रणालियों और न्याय प्रशासन का आधार है। जब कोई व्यक्ति उसके प्रति किए गए अन्याय के लिए प्रतितोष प्राप्त करने या आपराधिक आरोप से स्वयं को प्रतिरक्षा करने के लिए न्यायालय तक पहुंचने में असमर्थ रहता है, न्याय असमान हो जाता है और वे विधियां जो उसके संरक्षण के लिए आशयित हैं, अर्थहीन हो जाती हैं और वे उस सीमा तक अपने प्रयोजन के लिए रहना असफल हैं रहती।"[3]

यथोचित और सुगम न्यायालयों की व्यवस्था का अभाव न्याय प्रशासन के प्रति सार्वजनिक असन्तोष का प्रमुख कारण है। सन 1906 में डीन रॉसको पाउण्ड द्वारा अपने प्रसिद्ध भाषण में इसकी अभिव्यक्ति की गई थी।[4] न्यायालयों में अनियंत्रणीय संचित मामलों, लंबित मामलों की बढ़ती हुई संख्या और मामलों के निपटारे में निचे से उपर तक सभी स्तरों पर होने वाले असामान्य विलंब तथा अत्यधिक व्यय के कारण असन्तोष उत्पन्न होता है। इसमें न केवल विधिज्ञ वर्ग, न्यायाधियाचियों (कक्षीकारों), सामाजिक कार्यकर्त्तावादियों, विधि शास्त्रियों, संसद् का ध्यान आकृष्ट किया है, वरन न्यायालय प्रबंधकों का भी।

1.3. तदनुसार भारत सरकार ने न्यायिक सुधार आयोग स्थापित करने का विनिश्चय किया अन्ततः, न्यायिक सुधारों का अध्ययन और सिफारिश करने का कार्य वर्तमान विधि आयोग को सौंपा गया। न्यायिक सुधारों का व्यापक प्रस्ताव न्याय प्रणाली को लचीली, शीघ्रगामी, अनौपचारिक, प्रक्रियात्मक जटिलताओं से मुक्त, सस्ती और परिणाममूलक बनाने के लिए उदिष्ट होना चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 31-क में यह उपबंध करते हुए कि इस निमित लक्ष्य निर्धारित किया गया है कि राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक प्रणाली की संक्रिया समान अवसर के आधार पर न्याय का संवर्धन करती है और विशिष्टतः यथोचित विधान या स्कीमों के माध्यम से या किसी अन्य तरीके से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था यह सुनिश्चित करने की दृष्टि से करेगा कि किसी नागरिक को न्याय प्राप्त करने के अवसरों से आर्थिक या अन्य निर्योग्यताओं के कारण वंचित नहीं किया जाता है। किसी भी एक साधन से वांछित उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक ऐसे कारण के परीक्षण के लिए जिसने न्याय प्रणाली को अतिहीन, स्तरीभूत और साधारण मनुष्य की पहुंच के परे बना दिया है एक बहुशाखीय कार्यक्रम बनाना होगा ताकि प्रत्येक योगदायी घटक के संबंध में प्रभावी और यथोचित कार्यवाही की जा सकती।

1.4. इसमें इसके पूर्व दर्शित दृष्टिकोण से विचार करने के पश्चात् विधि आयोग ने न्यायिक सुधारों को सिफारिश करने के अपने क्रमबद्ध कार्यक्रम में अन्य बातों के साथ-साथ न्यायपालिका में जनशक्ति आयोजना पर भी ध्यान केन्द्रीत किया है।[5]

उस रिपोर्ट में विनिर्दिष्ट यह कथित किया गया था कि भारत के सुनियोजित विकास में न्यायिक जनशक्ति आयोजना की समस्या को साधारणतः अपेक्षा की गई है। अन्य कारणों में एक साधारण कारण यह है कि भारत में जनशक्ति नियोजन के विकासशील विज्ञान ने न्याय प्रशासन के क्षेत्र में नीति निर्माताओं का ध्यान आकृष्ट नहीं किया है।[6] तदनुसार, विधि आयोग ने यह सिफारिश की थी कि राज्य को तत्काल भारतीय जनसंख्या के प्रति दस लाख पर 10.5 न्यायाधीश के वर्तमान अनुपात से बढ़ाकर आगामी पांच वर्ष की कालावधि में भारतीय जनसंख्या के प्रति दस लाख के लिए कम से कम 50 न्यायाधीश तक करना चाहिए। यह और भी सिफारिश की गई थी कि वर्ष 2,000 तक भारत में भारतीय जनसंख्या के प्रति दस लाख के लिए 107 न्यायाधीश होने चाहिए।[7] विधि आयोग ने भी स्पष्ट किया था कि यह भारतीय न्यायपालिका के पुनर्गठन के विषय पर यह अन्तरिम रिपोर्ट थी। इस आधार का अनुगमन करने वाली उसकी द्वितीय रिपोर्ट में न्यायिक नियुक्तियों के संबंध में विचार किया जाएगा।[8] उसकी तृतीय रिपोर्ट में, न्याय प्रशासन के आधुनिकीकरण, कम्प्यूटर प्रोद्योगिकी के उपयोग को सम्मिलित करते हुए न्याय प्रशासन के लिए अधिकारी वर्ग और अवसंरचनात्मक संबंधी सेवाओं के लिए संसाधनों के आबंटन की समस्या पर विचार किया जाएगा। तदनुसार, यह रिपोर्ट वह तृतीय रिपोर्ट है जिसका आश्वासन दिया गया था और इसमें न्याय प्रशासन के लिए अधिकारी वर्ग और अधोरचना सेवाओं के लिए संसाधन आबंटन पर विचार किया गया है। यह रिपोर्ट पूर्ववर्ती दो रिपोर्टों[9] के अनुक्रम में है और सभी तीन रिपोर्टें एक मुश्त सिफारिशें उपलब्ध कराती हैं। यदि इन रिपोर्टों में की गई सिफारिशों के संबंध में सामूहिक रूप से कार्यवाही नहीं की जाती तो पूरा चित्र विकृत हो सकता है।

अध्याय 2

न्यायालय : परिवर्तनशील भूमिका

2.1. "न्याय की संकल्पना समाज को पूरी तरह समाहित करती है। यह वह सिद्धान्त है जो एक कुटुम्ब में संबंधों को शासित करता है, और उसे राष्ट्रों के कुटुम्ब में संबंधों को भी समान रूप से शासित करना चाहिये।[1]" न्याय न्यायालयों का प्रभावचिन्ह है। न्याय-विचारों में भिन्नता होती है, तथापि, न्यायालय व्यापक-न्यायप्रणाली में कार्य करते हैं जो सुधारों के माध्यम से उसके क्षेत्र को पुलिस से व्यापक बना देती है, और नागरिक क्षेत्र में वह सभी नागरिकों को स्पर्श कर सकती है। न्यायालय इस पद्धति के आलंब हैं। उनकी गंभीर अपूर्णताओं के बावजूद, ऐसे राष्ट्र की, जो न्यायालय विहीन हो, ऐसे समिश्रित समाज की, जिसमें उस समाज द्वारा स्थापित नियमों को प्रवर्तित करने के लिये सुव्यवस्थित संस्थाएं न हों, संकल्पन करना भयावह है।[2] अतः यह, आवश्यक है कि इस प्रणाली को सशक्त बनाया जाए। न्यायालय संरचना और न्याय प्रशासन को आधुनिक बनाने और न्यायालय संबंधी उद्देश्यों को, जिनके संबंध में न्यायालय पद्धति से प्रत्यक्षतः या परोक्षतः संबंध विभिन्न हितबद्ध समूहों, जैसे न्यायाधीशों, वकीलों, विधि-शास्त्रियों, कक्षीकारों, में और यहां तक कि सरकार में भी किसी सीमा तक मतैक्य है, प्राप्त करने के लिये सुधार आन्दोलन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है। सरकार की न्यायिक प्रणाली की दक्षता से बढ़कर सरकार की श्रेष्ठता की और कोई कसौटी नहीं है, क्योंकि एक औसत नागरिक के कल्याण और सुरक्षा को जितनी निकटता से यह अनुभूति स्पर्श करती है कि वह निश्चित और त्वरित न्याय प्रशासन पर निर्भर कर सकता है, उतनी निकटता से कोई अन्य अनुभूति नहीं।" [3]न्यायिक शक्ति राज्य की शक्ति है। राज्य के लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसी संस्थाएं सृजित करें जिन्हें राज्य की न्यायिक शक्ति प्रदत्त की जा सके और न्याय की तलाश करने वाले नागरिक की उन संस्थाओं तक पहुंच हो सके। राजनैतिक संस्कृति में किसी राष्ट्र की श्रेणी का अवधारण करने में, उसके न्याय प्रशासन में एक और दूसरे प्राइवेट नागरिक के बीच और प्राइवेट नागरिकों और सरकार के सदस्यों के बीच जिस सीमा तक न्याय की, जैसा कि वह विधि द्वारा परिभाषित है, वस्तुतः उपलब्धि होती है, उससे अधिक निश्चायक कोई कसौटी नहीं है।"[4]

2.2. पद "न्याय तक पहुंच" के विभिन्न लक्षणार्थ हैं। "न्याय तक पहुंच" के मार्ग में अधिक खर्च, भौगोलिक दूरी, खर्च और लाभ का प्रतिकूल अनुपात और भ्रमात्मक न्याय की तलाश में असाधारण विलम्ब अवरोधक हो सकते हैं। "न्याय तक पहुंच" में जो भी मार्ग-अवरोधक हैं, उन्हें दूर करने के लिये सरकार उत्तरदायी है। तद्नुसार राज्य को यह सुनिश्चित करना चाहिये कि न्याय प्रणाली समान रूप से सभी को सुलभ होती है, और उससे ऐसे परिणाम प्राप्त होने चाहिये जो व्यष्टिक और सामाजिक रूप से न्यायसंगत हैं।

2.3. "न्याय तक पहुंच" की संकल्पना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। पूर्व में, न्यायिक सुरक्षा प्राप्त करने के अधिकार से तात्पर्य या व्यक्ति का दावे के लिये वाद करने या उसमें अपनी प्रतिरक्षा करने का अधिकार। उनके संरक्षण के लिये राज्य द्वारा कार्यवाही अपेक्षित नहीं थी। उनके परिरक्षण के लिये केवल यह अपेक्षित था कि राज्य उन्हें दूसरों से क्षतिग्रस्त न होने दे। "विधिक निर्धनता", अर्थात् विधि और संस्थाओं का पूरा उपयोग करने की अनेक व्यक्तियों की असमर्थता, राज्य का सरोकार नहीं था।"[5]

2.4. अनुच्छेद 39 राज्य पर यह निश्चयात्मक कर्तव्य अधिरोपित करता है कि वह विधि प्रणाली की ऐसी संरचना करे कि जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि उसकी संक्रिया से न्याय का समान अवसर के आधार पर संप्रवर्तन होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये, राज्य को यह सुनिश्चित करने के लिये यथोचित विधान पारित करना या स्कीमें विरचित करनी पड़ी कि न्याय प्राप्त करने के अवसरों से किसी भी नागरिक को आर्थिक या अन्य निर्योग्यताओं के कारण वंचित नहीं रखा जाए, अन्य निर्योग्यताओं में से, न्यायालयों का न्याय की तलाश करने वाले नागरिकों के आवास से अधिक दूरी पर स्थित होना स्वतः ही किसी नागरिक की न्याय की तलाश पर निराशाकारी प्रभाव डालेगा। यह निर्योग्यता वादार्थियों की सहज पहुंच के भीतर न्यायालय स्थापित करके और, यदि आवश्यकता हो तो

विधिक सहायता की व्यवस्था करके दूर की जा सकती है, ताकि अत्यधिक खर्चीली प्रणाली न्याय प्राप्त करने की तीव्र इच्छा को निष्फल न कर दे। यदि गरीब और अज्ञानी व्यक्ति को यह बताने वाला कोई नहीं है कि कानून क्या है तो उसे इसका क्या लाभ हो सकता है कि वह विधि के समक्ष अपने शक्तिशाली विरोधी के बराबर है? या जब उसके पास एडमीशन फीस देने का साधन ही नहीं है तब इसका क्या फायदा कि न्यायालय उसके लिये उन्हीं शर्तों पर खुले हुए हैं जिन शर्तों पर अन्य व्यक्तियों के लिए।"[6]

2.5. अतः इस प्रश्न पर विचार कीजिये कि जब एडमीशन फीस चुकाने के अलावा, किसी को न्याय के स्थान की तलाश में साक्षियों के साथ लम्बी दूरी की यात्रा करनी पड़ती है। हमारे देश में न्यायालय ऐसे स्थानों में स्थित हैं जहां पूरी दूरी पैदल चल कर ही पहुंचा जा सकता है। कौन साक्षी इतना न्याभिमुख होगा जो सत्य का प्रतिसमर्थन करने के लिए, अपना काम धंधा छोड़कर कभीकार के साथ न्यायालय तक की पूरी दूरी पैदल तै करेगा। ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले गरीब लोगों के लिए, अपना काम छोड़ देने का मतलब है स्वल्प भोजन से भी स्वयं को वंचित करना।

2.6. अब यह सही है कि शीर्षस्थ न्यायालय ने हाल ही में समाज के उन निर्बल वर्गों के लिये अपने द्वारा खोल दिये हैं जो अपने मूल अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायत करते हैं। तथापि यह नहीं भूलना चाहिये कि ग्रामीण क्षेत्र से उद्भूत होने वाले मुकदमों का एक बड़ा भाग कानूनों के प्रवर्तन से संबद्ध होता है जिसमें असंतोष की मांग आधारिक स्तर के न्यायालयों से ही करनी पड़ती है। जबकि अभिरक्षा में निरुद्ध व्यक्तियों, पुलिस की हिंसा से उत्पीड़ित व्यक्तियों, कर्मकारों, फुटपाथों पर रहने वाले व्यक्तियों आदि के लिय शीर्षस्थ न्यायालय ने अपने द्वार खोल दिये हैं, न्यायालय में प्रवेश के लिये जो बंधन है, उसे ध्यान में रखा जाना चाहिये, क्योंकि यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति अपने मूल अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायत करते हुए उच्चतम न्यायालय से मामले के न्यायनिर्णयन की प्रार्थना करे। किन्तु समाज के उन निर्बल वर्गों के साथ होता यह है कि उन्हें न्यूनतम मजदूरी का संदाय नहीं किया जाता, वे नौकरशाही की उदासीनता के कारण त्रस्त रहते हैं, उनके अपने बीच सम्पत्ति, मार्ग के अधिकार, भूमि या निवासगृह के कब्जे आदि से संबंधित विवाद होते हैं। उन्हें आधारिक स्तर के न्यायालयों में जाना होता है और ये न्यायालय "सुने जाने के अधिकार" के प्रश्न को नजरअंदाज करके, औपनिवेशिक युग में निर्धारित प्रक्रिया से अवरुद्ध हुए बिना, न्याय करने की आधुनिक विकासशील संस्कृति से अपरिचित हैं। 1969 से 1980 की अवधि में, कार्यपालिका ने अपनी यह इच्छा सर्वविदित कर दी थी कि न्यायालयों और न्यायाधीशों को संविधान और उसके भीतर प्रगति और न्याय के प्रति वचनबद्ध होना चाहिये। अब भारत के उच्चतम न्यायालय के नेतृत्व में, न्यायाधीशों और न्यायालयों ने ग्रामीण निर्धन और अभागे अल्प सुविधा प्राप्त लोगों के प्रति अपनी वचनबद्धता प्रदर्शित की है। किन्तु उसके केवल सीमित लाभ हो सकता है। निस्संदेह, जिस प्रकार न्यायाधीशों और न्यायालयों ने भारतीय पीड़ा को गंभीरता से लेना प्रारंभ किया है, सामाजिक कर्मण्यतावादियों ने भी दबे हुए और कमजोर व्यक्तियों की ओर से सम्पूर्ण संघर्ष के पहलू के रूप में विधि के उपयोगों को समझा है।[7] मुकदमों को अधिकांश प्रतिशत में मूल अधिकारों का उल्लंघन अन्तर्वलित नहीं होता। ये मुकदमें ग्रामीण क्षेत्रों से उत्पन्न होते हैं। इन क्षेत्रों को उनके छोटे-छोटे विवादों में, जो दूरस्थ न्यायालयों में लम्बे समय तक चलते रहते हैं, संदेश-पत्रात्मक अधिकारिता या सोशल एक्शन लिटिगेशन द्वारा कोई अनुतोष प्रदान नहीं किया जा सकता। पूरा दिन बर्बाद किये बिना और दैनिक आय से वंचित हुए बिना, न्यायालय तक सहज पहुंच की व्यवस्था उनके लिये बहुत बड़ी सेवा होगी। ऐसे मामलों में, समीपवर्ती क्षेत्र में न्याय बहुत बड़ी संख्या में वादार्थियों को राहत पहुंचाएगा। सोशल एक्शन लिटीगेशन का कार्य-योजना से निश्चित रूप से अपना स्थान है। समस्याओं को हल करने के लिये अधिकांश रूप से न्यायालयों को अवलंब लिया जाता है, जबकि प्राचीन काल में उनका न्यायिक समाधान नहीं किया जाता था। कभी-कभी कार्यपालिका या विधायिका को कठिन और राजनैतिक दृष्टि से परेशान करने वाले प्रश्न न्यायालयों को, यद्यपि प्रच्छन्न रूप से, निर्दिष्ट कर देना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ मुस्लिम वीमेन्स (राइट्स ऑन डाइवोर्स ऐक्ट, 1986) ऐसी स्थिति में न्यायालय समाज की समस्याओं के निदानकर्ता के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। किन्तु जैसा कि पूर्व में बताया गया है, यह विस्तारी अधिकारिता अल्प सुविधाप्राप्त उन व्यक्तियों का, जो दिन प्रति दिन की

समस्याओं से संबंधित छोटे-छोटे विवादों से ग्रस्त रहते हैं, कोई हितसाधन नहीं कर पाती और उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाती। उनके लिये सहज पहुंच से तात्पर्य है समीपवर्ती क्षेत्र में न्याय देने वाला न्यायालय। ग्राम न्यायालय की, जो सहभागी न्याय का एक प्रतिमान है, स्थापना की सिफारिश करके विधि आयोग द्वारा इस दिशा में कुछ प्रयास किया गया है।[8]

2.7. वांच्छित सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये, संविधान का निरन्तर निर्वचन और पुनर्निर्वचन करने में, विधानों और उनकी अधीनस्थ विधियों का प्रकलन होना अनिवार्य है और परिणामस्वरूप, विभिन्न हित अभिव्यक्त होंगे या टकराएंगे। प्रतिकूल आशाओं से उद्भूत होने वाले विवादों का निराकरण इन्हीं विधानों के माध्यम से सतत रूप से करना न्यायालयों की भूमिका को अनिवार्यतः बना देता है।

2.8. सभी वर्गों के क्रियाकलापों पर परिव्यय बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक क्रियाकलाप में, अधिकार-कर्तव्य लक्षण से संबंधित संभावित संघर्ष विद्यमान है। एक बार ऐसा संघर्ष स्पष्ट हो जाने पर, न्याय की तलाश अवश्यंभावी है और यह तलाश न्याय की बलवती प्रत्याशा को जन्म देती है। संवैधानिक लोकतंत्र में यह स्वाभाविक रूप से अपरिहार्य है, क्योंकि वह विधि के शासन के सिद्धान्त पर आधारित है। इन सब बातों ने मिलकर अधिक न्यायालयों की आवश्यकता उत्पन्न कर दी है और अधिक न्यायालयों का तात्पर्य है न्यायिक प्रणाली पर अधिक खर्च।

2.9. यह एक सुखद बात है कि भारत में हमारे न्यायालय विदेशों से विचार ग्रहण नहीं कर रहे हैं वरन् उनका भारतीयकरण कर रहे हैं जिसकी मांग है बहुसंख्यक लोगों के लिये अधिक सुविधाएं उपलब्ध कराना।

2.10. निर्विवाद रूप से, न्यायालय के कृत्यों में कई गुना वृद्धि हो गई है। यह स्थिति केवल उच्चतम न्यायालय तक ही सीमित नहीं है, वरन् सभी स्तरों के न्यायालयों में है। यह अभिलेख करने वाले कानूनी उपबंध की मांग बढ़ती जा रही है कि आधारिक स्तर के न्यायालय भी, यह सिद्ध करने की आवश्यकता के बिना कि मूल अधिकारों का अतिक्रमण हुआ है, ऐसे समूह के, जो अपने सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन के कारण असंतोष प्राप्त करने में असमर्थ हैं, क्षतिग्रस्त हितों को निर्दिष्ट करके, सोशल एक्शन लिटीगेशन ग्रहण कर सकें। विधि आयोग ने, आधारिक स्तर के न्यायालयों की पुनः संरचना किये जाने के संदर्भ में "सुने जाने के अधिकार" से युक्त सम्पर्क अधिकारी की सिफारिस की है।[9]

2.11. संस्थागत रूप से, न्यायालय प्रभुत्व सम्पन्न अवस्थिति प्राप्त न कर सके किन्तु जब अन्य सभी उपाय असफल हो जाते हैं, तब न्याय के लिए अन्तिम संबल के रूप में न्यायालय का दरवाजा खटखटाया जाता है। न्यायालयों में जनता का विश्वास इस तथ्य से स्पष्ट है कि न्यायालयों को अत्यधिक लोक महत्व के प्रश्नों पर अपना निर्णय देने के लिए अपेक्षित किया गया है।[10] चाहे वह सर्वोच्च चिकित्सीय उपाधियों के लिए प्रमुख विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के संचालन, या प्राधिकार या शक्ति से युक्त व्यक्तियों द्वारा शक्ति के दुरुपयोग, बड़े औद्योगिक घरानों द्वारा पर्यावरण को प्रदूषण का मामला[11] हो या ऐसे राजनैतिक दल द्वारा किया गया प्रयत्न हो जिसने इस आशंका के कारण कि वे निर्वाचन में सफलता से प्रवंचित हो सकते हैं निर्वाचन की प्रक्रिया को, अनुच्छेद 329(ख) के बावजूद, रिट याचिका में तुच्छ और आधारहीन आक्षेप उठाकर विफल करना चाहा है,[12] या मूल राजनैतिक दल के दो विभाजित दलों में निर्वाचन चिह्न[13] या दल के कार्यालय[14] के उपयोग के बारे में विवाद हो। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि सबूत की आवश्यकता है तो न्यायालय निश्चित ही वह विश्वास उत्पन्न करते हैं जो केवल वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षतता द्वारा संभव है। जब उन पर शंका भी की जाती है, तो समस्या को समझने की योग्यता प्रश्नगत की जाती है न कि उनकी निष्पक्षतता। यह एक ऐसा बिन्दु है जो अंतिम रूप से स्वीकार किया जाता है और अन्याय से जो क्षोभ उत्पन्न होती है वह न्यायालयों द्वारा शोषित कर ली जाती है जो एतद्द्वारा अवरोधक और दाब निर्गम के रूप में कार्य करते हैं जिसकी सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए अत्यावश्यकता है।

2.12. सुव्यवस्थित समाज में, जो अपने सदस्यों से अपने प्रति किए गए अन्याय के प्रतिकार के लिए स्वसहाय की अपेक्षा विधिक प्रक्रिया पर निर्भर रहने की अपेक्षा करता है, समाज पर होने वाले नैतिक अत्याचार को अभिव्यक्ति अत्यावश्यक है। अराजकता से बचने के लिए, न्याय किया जाना महसूस होना

चाहिए और न्यायालय ही वह व्यवस्थित निर्गम प्रदान करते हैं। विधि के पालन को उस सशक्ततम बल के रूप में वर्णित किया गया है जो किसी राष्ट्र को शांतिपूर्ण अस्तित्वशीलता और प्रगति का निर्माण करता है।[15] यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि वह संस्था, जो समाज का संतुलन बनाए रखती है और विकास के मार्ग में उसको सुव्यवस्थित प्रगति को विनियमित करती है, इतिहास को इस शिक्षा को नजरअंदाज करते हुए अपेक्षित है कि विधि सम्मत शासन द्वारा समाज के शांतिपूर्ण रूपान्तरण का विकल्प हिंसा है। ऐसे रूपान्तरण में न्यायालय का योगदान असीम है।

2.13. न्याय प्रशासन को विकासात्मक क्रियाकलाप का मार्ग नहीं समझा जाता और इसलिए पंचवर्षीय या वार्षिक योजनाओं द्वारा उसकी अभिवृद्धि नहीं की जाती। इस प्रकार न्याय आयोजनेतर व्यय है। न्यायालय भवनों के निर्माण, विद्यमान संरचनाओं के लिए सुखसुविधाओं की व्यवस्था करने और अतिरिक्त अधीनस्थ न्यायालयों तथा उनमें कर्मचारीवृन्द की व्यवस्था के लिए सप्तम और अष्टम वित्त आयोग के अन्तर्गत योजना के अधीन नाममात्र की राशियां उपलब्ध कराई जा रहीं हैं। अब समय आ गया है जब न्याय प्रशासन पर होने वाले व्यय का योजना व्यय के रूप में पुनः आबंटन किया जाना चाहिए। आर्थिक आयोजना, जो विधिक संविन्यासों को नजरअंदाज करती है, प्रायः अंतिम रूप से असफल हो जाती है।[16] तदनुसार विधि आयोग ने अपनी यह राय व्यक्त की है कि न्याय प्रशासन के व्यय को योजना व्यय माना जाना चाहिए।[17]

2.14. वह प्रश्न, जो हमारी आंखों में झांकता है और जिसका उत्तर दिया जाना चाहिए, यह है कि क्या वर्तमान में संरचित न्यायालय बढ़े हुए कार्य के बोझ से निपटने के लिए सुसज्जित है। जैसा कि लंबित कार्यसूचियों से, जो विस्फोटक स्थिति में पहुंच गए हैं, प्रकट होता है, न्याय प्रणाली नए चुनौतियों का सामना करने और उसमें स्थापित विश्वास को बनाए रखने के लिए पर्याप्त रूप से सज्जित नहीं है।

2.15. मामलों के निपटारे में होने वाले विलंब न्याय को सन्तर्जित करता है। समय कि व्यपगमन सत्य को धूमिल कर देता है, साक्षियों की याददाश्त को कमजोर कर देता है और साक्ष्य के प्रस्तुतीकरण को मुश्किल बना देता है इससे न्यायिक प्रक्रिया में जनता का विश्वास समाप्त हो जाता है जो स्वयं में न्याय-सम्मत शासन के लिए खतरा है। मुकदमेबाजी के बढ़ती हुए खर्च का एक कारण विलंब है और जिसके परिणाम-स्वरूप कक्षीकार अपने उचित दावो का त्याग कर देते हैं या अल्प अन्यायपूर्ण परिनिर्धारण के लिए न्यायालय के बाहर समझौता कर लेते हैं।[18]

2.16. युक्तियुक्त समय के भीतर मामलों का निपटारा न किए जाने में एक अन्य अन्तर्निहित खतरा भी है किन्तु जिसे अवांछनीय गिरावट मानकर अनदेखा कर दिया गया है। कोई व्यक्ति जिसने अन्याय सहा है और अतिविलंब के कारण न्याय प्राप्त करने में असमर्थ रहा है, विवादों को सुलझाने के साधन के रूप में कभी-कभी बलपूर्वक स्वसाहय्य का सहारा लेगा। प्रणाली की विलम्बिता का यह भयावह लक्षण अब सिर उठा रहा है जैसा कि कुछ राज्यों में होने वाली हत्याओं की श्रृंखला से स्पष्ट है। उदाहरण स्वरूप, राम भरोसे और प्यारेलाल के घरों में झगड़ा पैदा हो गया था और कुलबैर को अग्नि में बार-बार ईंधन डालने का कार्य पत्नी के अपहरण और भाई को छुरा भोंक कर किया गया। इस कुलबैर की ज्वाला दूसरी बार भड़क उठी जब प्यारेलाल के पुत्र राजेन्द्र प्रसाद द्वारा हत्या कर दी गई। उसे आजीवन कारावास की सजा दी गई। अभियुक्त को, कुछ समय तक सजा भुगतने के बाद गांधी जयन्ती पर छोड़ दिया गया। बाहर आने के बाद उसने राम भरोसे और उसके मित्र मन्सुख को छुरा भोंक दिया और मन्सुख चोट के कारण मर गया। उस पर फिर से मुकदमा चला।[19] इस प्रकार की प्रतिक्रिया की श्रृंखला के अनेक मामले उद्धृत किए जा सकते हैं, विशेषतः इसलिए कि जब जख्म ताजे होते हैं तब न्याय नहीं किया जाता।

2.17. जब सम्यक् रूपेण प्राधिकृत के रूप में न्यायालयों को स्थिति का असम्यक् विलम्ब के परिणाम-स्वरूप ह्रास होता है तो शांति सामाजिक व्यवस्था और अच्छे शासन में विश्वास को खतरा पैदा हो जाता है। संकुलता और विलंब से न केवल विवादों का शीघ्रता से निराकरण करने की न्यायालय की क्षमता में जनता के विश्वास पर असर पड़ता है वरन् पृथक्-पृथक् मामलों में प्राप्त न्याय की गुणवत्ता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि कोई न्यायाधीश समय के अयुक्तियुक्त दबाव में कार्य कर रहा है तो वह प्रत्येक विशिष्ट मामले में न्याय करने पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा मामलों को निपटाने पर अधिक ध्यान देगा। ऊपर वर्णित बातों के अतिरिक्त जो न्यायतन्त्र के नियंत्रण से परे है, कुछ न्यायालय-संबंधी कारण भी हैं जो न्यायालय में विलम्ब और मामलों की संकुलता में सहायक होते है। न्याय प्रणाली मामलों की बोझिलता के संकट का सामना

करने के लिए यथोचित रूप से तयार नहीं है। रिक्तियों को भरने में होने वाले विलंब को लंबित मामलों की बढ़ती हुई संख्या का एक बड़ा कारण निरुपित किया गया है,[20] हालांकि यथार्थतः उसे न्यायालय-संबंधी कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि नियुक्ति में विलंब सदैव कार्यपालिका स्तर पर होना बताया गया है। इसके साथ ही, आने वाले मामलों का अक्षम प्रबंध असन्तोषप्रद और अवृत्तिक न्यायालय प्रबंध अपर्याप्त सुविधाओं और अपर्याप्त् वित्त व्यवस्था इन सभी ने बढ़ते हुए लंबित मामलों को निबटाने को न्यायालयों की क्षमता का ह्रास किया है।

2.18. उपलब्ध न्यायालय-कक्षों की सीमित संख्या भी मामलों के व्यवस्थित संचालन में व्यवधान उपस्थित करती है। न्यायालय प्रबंध संगठन पद्धति-सुधार के अनुरूप नहीं है। न्यायालय के अधिकारियों में प्रबंध के प्रशिक्षण का अभाव है और न्याय प्रणाली के प्रशासन में एकीकृत उपागम का अभाव है। न्यायालयों का प्रबंध पुरातन सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है उन्हें संचार के आधुनिक साधन उपलब्ध नहीं है। अधीनस्थ न्यायालयों को नियमानुसार टेलीफोन कनेक्शन भी नहीं दिए गए हैं। मामलों के प्रबंध में प्रभावी नियंत्रण के प्रयोग की असफलता विलंब का प्रमुख कारण हैं।

2.19. न्यायालय में होने वाले विलंब को कम करने और शीघ्र न्याय करने के लिए तीन आधारिक प्रतिमान हैं। प्रथम, विद्यमान न्यायालय संसाधनों के उपयोग को अधिक कार्यक्षम बनाना, द्वितीय न्यायालय सेवाओं और संसाधनों की मांग को कम करना, और तृतीय न्यायालय सेवाओं की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए न्यायालय संसाधनों का विस्तार करना।[21] वर्तमान रिपोर्ट, न्यायालय सेवाओं की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने हेतु न्यायालय संसाधनों के विस्तार की आवश्यकता को सिद्ध करने के लिए उद्दिष्ट है।

2.20. न्यायालय संसाधानों का उपयोग करने में अधिक दक्षता, न्यायालय का प्रभावी और वृत्तिक प्रबंध और आने वाले मामलों का प्रभावी प्रबंध सुनिश्चित करके और न्यायालय प्रबंध में आधुनिक प्रौद्योगिकी प्रारंभ करके प्राप्त की जा सकती है। भारतीय संदर्भ में, न्यायालय सेवाओं की बढ़ती हुई मांग तथा न्यायालयों की अधिकारिता को ऐसे क्षेत्रों में विस्तारित किए जाने के कारण जो परंपरागत रूप उनके अधिकार क्षेत्र में नहीं आते, न्यायालय सेवाओं की मांग को कम करना संभव नहीं रह गया है। यद्यपि विधि आयोग ने सामान्य न्यायालयों का बोझ हलका करने के उद्देश्य से कर, श्रम और शैक्षिक विषयों से संबंधित विवादों के निराकरण के लिए वैकल्पिक विशेषीकृत न्यायाधिकरण के गठन का सुझाव दिया है, किन्तु बढ़ते हुए कार्य के अन्तर्प्रवाह को दृष्टिगत रखते हुए, न्यायालय सेवाओं का आनुपातिक विस्तार किया जाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विशेषज्ञीय न्यायाधिकरण के सुव्यवस्थित कार्यकरण को सुकर बनाने के लिए समुचित आधोरचना की आवश्यकता होगी। अंतिम विश्लेषण के रूप में, न्यायालय संसाधनों का विस्तार करने के लिए पर्याप्त निधियों के अभाव में न्यायालय संसाधनों का दक्ष उपयोग सदैव ही न्यायालय सुधार का प्रमुख साधन बना रहेगा।

अध्याय 3

न्यायालय सुविधाएं : जनशक्ति और सामग्री

3.1. न्यायालय प्रणाली से प्रत्यक्षतः संबद्ध विभिन्न हित, यद्यपि वे न्यायपालिका का सुधार करने के लिये व्यग्र हैं, बदलती हुई विधि और प्रक्रिया में इतने चिन्तनरत है कि वे एक अत्यधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र को अनदेखा कर देते हैं जो न्यायिक कार्यवाहियों में विलंब के लिये एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है और जिसमें सुधार करना अत्यावश्यक है और वह स्वतः न्यायालय सुविधा है, न्यायालयों के कार्यकरण को कठिन परिस्थितियां, न्याय प्रणाली की संगठनात्मक संरचना, न्यायिक कार्य का दोषपूर्ण वितरण, अपर्याप्त प्रशासनिक, कर्मचारी जो सब संसाधन का अपर्याप्त आबंटन उपदर्शित करते हैं। प्रत्येक पहलू का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया जा सकता है।

न्यायालय सुविधाएं

3.2. यदि न्याय प्रशासन में विभिन्न कृत्यकारियों की भूमिका का मूल्यांकन किया जाना हो तो आवश्यक रूप से सर्वोच्च स्थान विचारण न्यायालय ने न्यायाधीश को दिया जाना होगा। वह न्यायिक महराब के बीच का पत्थर है। तथापि, वह एक ऐसा अधिकारी है जिसे सबसे अधिक कष्ट उठाना पड़ता है। अधीनस्थ न्याय पालिका को दी गई सुविधाएं नारकीय हैं। ये न्यायालय पुराने बिना हवादार, असुसज्जित और गन्दे भवनों में कार्य करते हैं। बहुधा उनमें कोई फर्नीचर (जिसे फर्नीचर कहा जा सकता हो) और उन साक्षियों के लिए कोई कक्ष या विश्राम कक्ष भी नहीं होता जो बहुत दूर से आते है और जिन्हें बरामदे में (यदि कोई हो) प्रतीक्षा करनी पड़ती है या ग्रीष्म ऋतु की धूप या शीतकाल में ठण्ड में रहना पड़ता है।[1] इसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। 1964 तक गुजरात के वडोरा जिले के दभोई स्थित न्यायालय ने अपनी बैठकें सिविल जेल में की और न्यायालय से संबद्ध बार के सदस्य दोपहर के भोजन के लिए खुले स्थान में और शीत ऋतु में बरामद में बैठते थे।

3.3. राजस्थान में अधिकांश मुंसिफों के न्यायालय किराए के भवनों में कार्य कर रहे हैं। उन्हें निरन्तर बेदखल कर दिए जाने या उनके विरुद्ध किराए के लिए वादों का भय बना रहता है। चिखा स्थित मुसिफ के न्यायालय को न्यायालय परिसर से बेदखल किए जाने के लिए वाद लंबित है। न्यायालय की छत गिर गई है। क्योंकि मकान मालिक मरम्मत पर 12 रु० प्रति वर्ष से, जो वास्तव में प्रतिमास दिया जाने वाला किराया है अधिक खर्च नहीं करता। गुजरात राज्य में सिविल न्यायाधीश, जूनियर डिवीजन के 15 न्यायालय किराए के परिसर में बैठते हैं, जो न्यायालय के कार्यकरण के लिए पूर्णतः अनुपयुक्त हैं। लगभग यही स्थिति दूसरे राज्यों में भी है।[2]

3.4. न्यायालय भवनों के सिवाय, विद्यमान न्यायालय भवनों में कोई सुविधाएं नहीं है। अभिलेख और फाइलें रखने के लिए पर्याप्त संख्या में कम बोर्डस या अलमारियों की व्यवस्था नहीं है। फाइलें और अभिलेख फर्श पर फैले पड़े रहते हैं। न्यायिक मजिस्ट्रेट अधिकांश न्यायालयों में समन निकालने के लिए छपे फार्म या जुर्माने के निक्षेप को अभिस्वीकृति देने के लिए रसीद बहियां नहीं हैं। नवम्बर, 1961 से अहमदाबाद ग्रामीण जिले के मुख्यालय में न्यायालय उस भवन में लग रहे हैं जो निकटतम बस्ती से बहुत दूर कुष्ठ अस्पताल के लिए बनी है। अहमदाबाद सिविल न्यायालय के अहाते में छोटे-छोटे न्यायालय कक्षों को जो पूर्व लघुवाद न्यायालय के लिए थे, अब सिटी सिविल न्यायालय के न्यायाधीश के उपयोग के लिए नियत किया गया है। वे आकार में बहुत छोटे हैं और उनका वातावरण दम घोंटने वाला है। अलवर में न्यायालय भूतपूर्व महाराजा के अस्तबलों में लगते हैं। अनेक स्थानों में न्यायालय ऐसे कक्षों में लगते है जहां न तो कक्षीकार खड़े हो सकते हैं और न ही वकील बहस कर सकते हैं।[3] वास्तव में, ऐसे मामले प्रकाश में आए हैं जहां, जब अतिरिक्त न्यायालय की मंजूरी दी जाती है, तो विद्यमान न्यायालय कक्ष को सूती कपड़े के परदे का पार्टीशन लगा कर एक न्यायालय कक्ष को दो न्यायालयों के लिए न्यायालय कक्ष में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक न्यायालय से होने वाली आवाज दोनों ही न्यायालय को बाधा पहुंचाती है। सर्वोच्च गौरव के रूप में, पुराने

बम्बई राज्य का विभाजन होने पर, 1 मई 1960 से बनाए गए नए गुजरात राज्य का उच्च न्यायालय उस भवन में स्थापित किया गया था जो शिशुओं के अस्पताल के लिए निर्मित किया गया था। गुजरात राज्य बनने के अठ्ठाइस वर्ष पश्चात्, उच्च न्यायालय अभी भी अपनी बैठकें उसी भवन में कर रहा है। गुजरात उच्च न्यायालय 5 न्यायाधीशों से प्रारंभ हुआ था। अब उसमें 24 न्यायाधीश हैं। संकुलता का वर्णन नहीं किया जा सकता। विधि आयोग की प्रश्नावली के उत्तरों से यह प्रकट होता है कि किराए के भवनों में कार्य करने वाले न्यायालयों का प्रतिशत उन राज्यों में, जिसने जानकारी दी है, 17 से 22 हैं।[4]

3.5. सप्तम और अष्टम दोनों ही वित्त आयोगों ने नये न्यायालय भवनों के निर्माण, न्यायालय सुविधाओं का विस्तार करने और विद्यमान न्यायालयों में अधिक सुविधाओं की व्यवस्था के लिए अधिक परिव्यय का आबंटन किए जाने की सिफारिश की थी। अष्टम वित्त आयोग ने, राज्य सरकारों से उसे प्राप्त इस जानकारी का कि 429 किराए के भवनों में स्थित हैं, विश्लेषण करते हुए यह राय थी (जो उसकी सिफारिशों में परिलक्षित होती है) कि सभी 429 न्यायालयों के लिए पक्के शासकीय भवनों की व्यवस्था की जानी चाहिए और उसने 4 लाख रुपए प्रति इकाई के हिसाब से इस उपशीर्ष के अन्तर्गत 17.40 करोड़ रुपए आबंटित किए थे। इसी के साथ, उसने संरचनात्मक परिवर्तनों और विद्यमान न्यायालयों में जनता के लिए सुविधाओं और कर्मचारियों के लिए 19 करोड़ रुपए मंजूर किए थे।[5] नवम् वित्त आयोग द्वारा इस विषय पर विचारविमर्श किए जाने के समय तक स्थिति में कोई सुधार नही हुआ है, जैसा कि बारह राज्यों में पूर्वोक्त अवार्ड के कार्यान्वयन की प्रगति के संबंध में विधि आयोग द्वारा की गई जांच से ज्ञात हुआ है। बारह राज्यों ने विधि आयोग के प्रश्नों के उत्तर दिए, जिनमें से चार ने यह स्वीकार किया कि अवार्ड कार्यान्वित नहीं किया गया है और शेष राज्यों ने यह औपचारिक कथन किया है कि कार्य प्रगति की प्रारंभिक अवस्था में है।[6]

3.6. विधि आयोग ने चर्चाधीन विभिन्न विषयों से सुसंगत जानकारी प्राप्त करने के लिए एक व्यापक प्रश्नावली जारी की। उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय ने अपने विस्तृत उत्तर में स्पष्टतः उपदर्शित किया कि राज्य न्यायालयों में न्यायालय कक्षों की बहुत कमी हैं। न्यायालयों की वर्तमान स्वीकृत संख्या में से 985 नियमित न्यायालय हैं जबकि शेष में से 427 न्यायालय काम चलाऊ न्यायालय कक्षों में, 65 कलेक्टोरेट में और 39 किराए के भवनों में लगते हैं। कुछ भवन, जो नियमित न्यायालयों के लिए हैं, समय बीतने के साथ बहुत पुराने हो गए हैं और जीर्णावस्था में हैं। काम चलाऊ न्यायालय कक्ष बहुत छोटे हैं और परिणामतः उससे न्यायालयों के समुचित कार्यकरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और उसके संबंध में बार के सदस्यों और कक्षीकारों से शिकायतें प्राप्त होती हैं। जहां न्यायालय कलेक्टोरेट के भवनों में लगते हैं, वहां कार्यपालक प्राधिकारी न्यायालय कक्ष खाली करने पर जोर दे रहे हैं। इसी प्रकार, किराए पर लिए गए, उन परिसरों के कुछ स्वामी जिनमें न्यायालय लगते हैं, न्यायिक विभाग के अधिभोग में के भवनों को छोड़ने का अनुरोध कर रहे हैं। कुल मिला कर स्थिति बहुत गंभीर है और यह अनुमान है कि अगले पांच वर्षों में लगभग 500 न्यायालय कक्षों की आवश्यकता होगी।[7] अष्टम वित्त आयोग ने यह संगणना कि है कि सभी राज्यों की आवश्यकताओं को देखते हुए, 210 अतिरिक्त न्यायालयों की आवश्यकता है। यह आंकड़ा एक वर्ष के संस्थित मामलों से अधिक के विचाराधीन मामलों की संख्या को राज्य के प्रति न्यायालय के लिए विनिर्दिष्ट निपटारे की संख्या या दो राज्यों को औसत संख्या से, इनमें से जो भी उच्चतर विभाजित करके निकाला गया है।[8] रिपोर्ट में, उत्तर प्रदेश राज्य में अतिरिक्त न्यायालयों का उपबंध नही किया गया हैं किन्तु उसका यह साधारण निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि उत्तर प्रदेश में एक वर्ष से अधिक के मामले लंबित नहीं है। यद्यपि विधि आयोग को उसकी प्रश्नावली के उत्तर में विस्तृत ज्ञापन प्रस्तुत किया गया था, उच्च न्यायालय ने अष्टम वित्त आयोग की सिफारिश का उल्लेख नहीं किया है, तथापि स्वीकार्य रूप से 39 न्यायालय किराए के भवनों में कार्य कर रहें हैं।

3.7. यह समान्योक्ति है कि न्यायालय के सुव्यवस्थित कार्यकरण के लिए अच्छे न्यायालय कक्षों वाला उच्च कोटि का भवन एक अपरिहार्य आवश्यकता है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय को अतिरिक्त न्यायपीठें स्थापित किए जाने के लिए निरन्तर आवाज उठाई जा रही है। भारत सरकार ने यह अभिनिश्चित करने के लिए एक आयोग बैठाया था कि क्या पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की न्यायपीठ स्थापित की जानी चाहिए। उसके विचारणीय बिन्दुओं को व्यापक बनाया गया और अन्य राज्यों को इस आवश्यकता पर विचार करने का कार्य उसे सौंपा गया। आयोग ने, कुछ न्यायालयों को अतिरिक्त न्यायपीठों की सिफारिश करते हुए इस बात पर बल दिया है कि न्यायपीठों को तब तक आप्त नहीं किया जाएगा जब तक कि सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त और न्यायालय की गरिमा और प्रतिष्ठा

के अनुकूल और सभी दृष्टियों से पूर्ण भवन अधिभोग के तुरन्त उपलब्ध नहीं हो पाता । आयोग के अनुसार न्यायपीठ का उद्घाटन तब तक नहीं किया जाना चाहिए जब तक न्यायपीठ के दक्ष और सुचारू कार्यकरण के लिए न्यायाधीशों के पुस्तकालय में पुस्तकों का संग्रहण करने और उसे सुसज्जित करने के लिए पर्याप्त निधियां राज्य सरकार द्वारा आबंटित और मंजूर नहीं कर दी जाती। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की न्यायपीठ की आवश्यकता के संबंध में आयोग की रिपोर्ट में उन आवश्यकताओं की विस्तृत सूची दी गई है जिनकी उच्च न्यायालय के भवन में व्यवस्था आवश्यकता से की जानी चाहिए ताकि वह दक्षतापूर्वक कार्य कर सके। उसने सुझाव दिया है कि भवन में कम से कम 25 न्यायालय कक्ष, न्यायाधीशों के लिए 25 प्रकोष्ठ, न्यायाधीशों के पुस्तकालय के लिए 5 अग्निसह कक्ष, न्यायधीशों के लिए यथोचित आकार का एक कान्फ्रेरेन्स हाल, अपर या संयुक्त रजिस्ट्रार, उपरजिस्ट्रार, सहायक रजिस्ट्रार, अनुभाग अधिकारी, आदि के लिए कार्यालय कक्षों वाला प्रशासनिक खण्ड होना चाहिए। भवन में पर्याप्त संख्या में बड़े आकार के अग्निसह अभिलेख-कक्ष अवश्य होने चाहिएं । इसके अतिरिक्त भवन में 3 बार रूम, बार के पुस्तकालय के लिए 2 कक्ष जिसमें वाचन कक्ष संलग्न हो, और वकीलों के लिए पर्याप्त संख्या में प्रकोष्ठ, देहली उच्च न्यायालय के प्रतिमान के आधार पर कक्षीकारों के लिए 2 प्रतीक्षालय न्यायाधीशों और अन्य अधिकारियों के यानों के लिए 25 गैरेज, पिटीशन लेखकों, स्टाम्प वेन्डरों और टाईपिस्टों के लिए 2 हाल, न्यायाधीशों , वकीलों और अन्य व्यक्तियों के लिए कैन्टीनें, औषधालय, डाकघर, बैंक, आदि के लिए स्थान होना चाहिए। इन सबके अलावा, न्यायाधीशों के निवास के लिए 25 बंगले और पूरे स्टाफ के लिए फलेट्स होने चाहिए। जब भी मुख्य न्यायाधीश को वहां जाने की आवश्यकता पड़े, उनके ठहरने के लिए गैस्ट हाउस होना चाहिए। प्रसार के लिए आगे को गुंजाइश सहित न्यायालय भवन के विशाल काम्प्लेक्स की आवश्यकता के अतिरिक्त, वकीलों के लिए प्रकोष्ठ या यहां तक कि निवास स्थान बनाने के लिए पर्याप्त भूमि होनी चाहिए क्योंकि यह संभाव्य है, कि वे प्रस्तावित न्यायापीठ के स्थान में चले जाएं।[9]

3.8. इस सुझाव में यह विवक्षित है कि अधीनस्थ न्यायालयों के लिए भी मानक न्यायालय सुविधाओं के लिए भी ऐसी ही योजना बनाई जानी चाहिए ।

3.9. भारत में, पर्याप्त संख्या में न्यायालय कक्ष की समस्या प्राथमिक चिन्ता का विषय है । तथापि, जब भी न्यायालय कक्ष का निर्माण का कार्य प्रारंभ किया जाता है, प्रत्येक स्तर के न्यायालय के संबंध में मानक योजना की व्यवस्था करना आवश्यक है। उसमें न केवल इसमें इसके पूर्व निर्दिष्ट आयोग द्वारा प्रस्तावित आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए वरन् पर्याप्त प्रकाश, हवा, विद्युत, ध्वनि, नलसाजी आदि सुविधाओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। सभी न्यायालय कक्ष इस प्रकार निर्मित किए जाने चाहिए कि उनमें मुकदमों में भविष्य में होने वाले कथित परिणाम वृद्धि की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। भविष्य में होने वाले प्रसार की आवश्यकताओं का अधिकांश राज्यों में ध्यान रखा जा रहा है।[10] यह प्रतीत होता है कि जबकि भविष्य में होने वाले प्रसार का ध्यान रखा जाता है, प्रयास विद्यमान न्यायालय के समीपस्थ खाली स्थान की किसी अन्य प्रयोजन के लिए आबंटित न किए जाने तक ही सीमित रखा जाता है। यह पर्याप्त प्रतीत नही होता । सम्पूर्ण स्थिति इस निमित्त पर्याप्त संसाधन आबंटित किए जाने पर निर्भर करती है। यह खेदजनक है कि वर्तमान में जो निधियां आबंटित की गई हैं उनका उचित उपयोग नहीं किया जाता।[11]

अतिरिक्त न्यायालय स्वीकृत करने के सिद्धांत

3.10. प्रत्येक राज्य ने नये या अतिरिक्त न्यायालय स्वीकृत करने के लिए प्रतिमान या मार्गदर्शी सिद्धान्त विहित किए हैं। नये या अतिरिक्त न्यायालय को स्वीकृति देने की शक्ति राज्य में निहित है। अनुच्छेद 235 में अन्तर्विष्ट सांविधानिक उपबंध को दृष्टिगत रखते हुए, उसके लिए प्रस्ताव उच्च न्यायालय से उद्भूत होता है जिसमें यह उपबंध है कि जिला न्यायालयों और उसके अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण जिसके अन्तर्गत राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों की तैनाती , और प्रोन्नति है, उच्च न्यायालय में निहित है। जिला न्यायाधीश तक के समस्त पद, उसके पद को सम्मिलित करते हुए, राज्य की न्यायिक सेवा के पद हैं। नये या अतिरिक्त न्यायालयों की, जिनमें राज्य की न्यायिक सेवा के सदस्य रखे जाने हैं, स्थापना करने से वित्तीय भार पड़ता है, अत: उन्हें स्वीकृत करने की शक्ति राज्य में निहित है, किन्तु प्रभावी रूप से इस शक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है जो कार्यभार की जरूरतों और अतिरिक्त न्यायालयों की आवश्यकताओं को समझता है। तदनुसार सिफारिश उच्च न्यायालय से उद्भूत होती है और साधारणत: राज्य उसे स्वीकृति देता है। उदाहरणस्वरूप, गुजरात उच्च न्यायालय ने अपने प्रत्येक अधीनस्थ

और जिला न्यायालयों के लिए कार्य की मात्रा विहित की है। विहित कार्य परिमाण के 25% से परे होने वाली वृद्धि नये न्यायालय के दावे को न्यायोचित ठहराती है। तथापि, यह जानकारी उपलब्ध नहीं है कि इन विनिर्देशों का कितनी तत्परता के साथ पालन किया जाता है। कार्य भार के सिवाय अतिरिक्त या नये न्यायालय स्थापित किए जाने का जो प्रमुख मानदण्ड है, अन्य आनुषंगिक घटक भी हैं जिन्हें ध्यान में रखा जाता है, जैसे कक्षीकारों की सुविधा, न्यायालयों के लिए उपलब्ध भवन, कर्मचारियों के लिए निवास स्थान, बार और पुस्तकालय की सुविधा, मुख्यालय से दूरी, परिवहन सुविधाएं, कर्मचारियों के बच्चों के लिए स्कूल आदि।[12]

3.11. किसी भी न्यायालय पर अत्याधिक कार्यभार न्यायालय के कार्यकरण को पूरी तरह निच्छिन्न कर देता है। प्रतिदिन असंख्य मामले रखे जाते ह और न्यायालय का अधिकांश समय या तो स्थगन देने या मामलों को पुन: क्रमबद्ध करने में नष्ट हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि नियत दिन को विचारण न्यायालयों में वास्तविक कार्य बहुत कम हो पाता है। न्यायालयों के सुचारू और दक्ष कार्यकरण के लिए प्रबंधनीय कार्यसूची अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। यह प्रतीत होता है कि अतिरिक्त न्यायालय स्थापित या स्वीकृत करने के मार्गदर्शी सिद्धान्त या प्रतिमान नियमित अन्तरालों पर पुनरीक्षित नहीं किए जाते । कुछ राज्यों में वे अप्रचलित हो गए हैं जिसका परिणाम यह है कि अतिरिक्त न्यायालय के लिए स्वीकृति देने में बहुत अधिक समय लगता है और यदि दीर्घ विलंब के पश्चात् अतिरिक्त न्यायालय के लिए स्वीकृति दी जाती है तो वह निरर्थक का परिश्रम होता है , क्योंकि उस समय तक और अतिरिक्त न्यायालयों के लिए स्वीकृति आवश्यक हो जाती है। सादृश्य इस तथ्य से निकाला जा सकता है कि जब न्यायाधीश को स्वीकृत संख्या का उर्ध्वगामी पुनरीक्षण किया जाता है, सृजित किए गए नये पद युक्तियुक्त समय के भीतर नहीं भरे जाते और जब दीर्घ विलम्ब के पश्चात् भरे जाते हैं, तब तक स्थिति इतनी बदल चुकी होती है कि न्यायाधीशों को संख्या का पुन: पुनरीक्षण किया जाना आवश्यक हो गया होता है। यह स्थिति यथा आवश्यक परिवर्तनों सहित अतिरिक्त न्यायालयों की स्वीकृति को भी लागू होती है । अत: यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में नये न्यायालय स्थापित करने के प्रतिमान और मानदण्ड सरकार द्वारा नहीं वरन उच्च न्यायालय द्वारा विहित किए जाने चाहिएं और उनका सावधानीपूर्वक अनुसरण किया जाना चाहिए। वित्तीय संसाधनों की विवशता जैसे सामान्य बहाने से ऐसा करने में प्रतिरोध उत्पन्न नहीं किया जाना चाहिए ।

न्यायिक अधिकारियों के लिए निवास

3.12. न्यायिक अधिकारियों के लिए निवास स्थान की व्यवस्था करना बहुत महत्वपूर्ण है । इसे उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए क्योंकि जिस गति से नगरीकरण की प्रक्रिया घटित हो रही है उसके कारण नगरीय और महानगरीय क्षेत्रों के लिए उपलब्ध आवास स्थान पर असहनीय भार पड़ रहा है। परिणामस्वरूप , यदि न्यायिक अधिकारियों के निवास के लिए सरकारी वास स्थान की व्यवस्था नहीं की जाती तो न्यायिक अधिकारियों को परिसर किराए पर लेने पड़ते हैं और चूंकि किराए प्रतिषेधक होने के कारण, समुचित वास स्थान उनकी पहुंच से परे हो जाता है। सामान्यत:, न्यायिक अधिकारी का तीन वर्षों के अन्तराल में नियमित रूप से स्थानान्तरण होता रहता है। जब उसे नये स्थान पर तैनात किया जाता है, तब वह वहां किसी को भी नहीं जानता। कोई न कोई वास स्थान प्राप्त करने के लिए उसे स्थानीय वकीलों की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार वह मकान मालिक और वकील के विश्वासघाती उपकार के अधीन होकर दोहरे संकट में पड़ जाता है । यह स्थिति शोचनीय होने के साथ उसका दुरुपयोग भी किया जा सकता है।[13]सप्तम वित्त आयोग ने इस स्थिति पर ध्यान दिया और यह विचार व्यक्त किया कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता और निष्पक्ष छवि के लिए यह आवश्यक है कि यथासंभव न्यायिक अधिकारी पर प्राइवेट व्यक्तियों से आवास गृह किराए पर लेने की विवशता नहीं होनी चाहिए। तदनुसार, अपनी सिफारिशों में, उसने न्यायिक अधिकारियों के लिए निवास गृह सन्निमित किए जाने के लिए निधियां मंजूर की ।[14] इस सराहनीय उद्देश्य और उसके लिए स्वल्प प्रावधान के कारण अधीनस्थ न्यायिक अधिकारियों के निवास की समस्या से संबंधित वर्तमान स्थिति दुखदायी बनी हुई है ।

3.13. अष्टम वित्त आयोग द्वारा की गई जांच के अनुसार, 7,238 न्यायिक अधिकारियों की कुल संख्या में से 3,819 न्यायिक अधिकारियों, अर्थात् 52.76% को सरकारी आवास आबंटित किए गए हैं। आयोग ने अपना यह सुविचारित मत व्यक्त किया कि न्यायिक अधिकारियों के लिए आवास स्थान

का न्यूनतम वांछनीय स्तर 80% होना चाहिए और तदनुसार उसने 2,107 अतिरिक्त आवास गृहों के लिए, प्रति इकाई 70,000 रुपए की दर से 14.94 करोड़ रुपए स्वीकृत किए। पहाड़ी राज्यों के लिए 30% अतिरिक्त का प्रावधान किया गया है।[15]

3.14. फ्लैट सन्निर्माण की लागत में हुई अपूर्व वृद्धि को दृष्टिगत रखते हुए यह प्रतीत होता है कि उस स्थान को, जहां फ्लैट सन्निर्मित किया जाना है, विचार में लाए बिना, 70,000 प्रति इकाई का जो प्रावधान किया गया है वह पर्याप्त नहीं है। उदाहरणार्थ, विधि आयोग को यह जानकारी दी गई है कि जब वर्ष 1987 में हिमाचल प्रदेश में कुछ आवास गृह निर्मित किए गए थे तब प्रति इकाई सन्निर्माण लागत 2.60 लाख रुपए थी और वास स्थान साधारण प्रकार का था। अतः, नवम वित्त आयोग के लिए, जो वर्तमान में कार्यरत हैं, यह आवश्यक है कि न्यायिक अधिकारियों के लिए आवास गृहों के सन्निर्माण के लिए अनुदान स्वीकृत करते समय, वह सन्निर्माण की लागत में उच्च वृद्धि के महत्वपूर्ण घटक का ध्यान रखे और पर्याप्त राशियां अनुदत्त करे ताकि वांछित उद्देश्य की पूर्ति हो सके।

3.15. विधि आयोग को पर्याप्त जानकारी एकत्र करने के प्रयास में यह जानकारी दी गई कि जबकि अधिकांश राज्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए युक्तियुक्त रूप से अच्छी वास सुविधा की व्यवस्था करते है, आन्ध्र प्रदेश एक ऐसा राज्य है, जहाँ उच्च न्यायालय के 65% न्यायाधीशों के पास कोई वास स्थान नहीं थे। सामान्यतः, अधीनस्थ न्यायिक अधिकारियों की स्थिति बहुत शोचनीय है। बिहार में, 80% न्यायिक अधिकारियों के लिए निवास स्थान की व्यवस्था नहीं है, और अष्टम वित्त आयोग द्वारा दिए गए अनुदान का उपयोग करने के पश्चात् भी, 42% न्यायिक अधिकारियों के पास फिर भी निवास स्थान नहीं रहेंगे। आन्ध्र प्रदेश में भी स्थिति इतनी ही खराब है, जहां 58% न्यायाधीशों को निवास स्थान नहीं दिए गए हैं और महाराष्ट्र में 63% अधिकारियों के पास सरकारी आवास स्थान नहीं हैं। जानकारी से यह स्पष्ट नहीं होता कि क्या जानकारी देते समय अष्टम वित्त आयोग द्वारा दिए गए अनुदान को ध्यान में रखा गया है। यह उपधारणा करते हुए कि उसे हिसाब में नहीं लिया गया है, अनुदान के पश्चात् भी 36% अधिकारी फिर भी सरकारी निवास स्थान के बिना ही रहेंगे।[16]

3.16. संविधान का प्रादुर्भाव होने पर, राज्य के सतत बढ़ने वाले क्रियाकलापों, नगरीकरण की द्रुतप्रक्रिया, जनसंख्या का बड़े पैमाने पर प्रवास और अधिकारों के प्रति जागरूकता, इन सभी ने न्यायिक प्रणाली के कार्य भार में अत्यधिक वृद्धि करने में योग दिया है। तथापि, यह प्रणाली, बिना किसी परिवर्तन के और आधुनिक प्रबन्ध तकनीकों और प्रौद्योगिकी विकास की सहायता के बिना ही कार्य कर रही है। स्पष्ट शब्दों में, अधिकांश न्यायालयों में संरचनात्मक परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता है।

3.17. न्यायालय पद्धति अनेक वर्षों की कालावधि में विकसित हुई है और उसकी समस्याओं को हल करने के तरीके राज्यवार विभाजित रहे हैं। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को दृष्टिगत रख कर कोई सुनियोजित आयोजना या विकास नहीं किया गया है। निःसंदेह, विधि आयोग ने भारतीय न्यायिक सेवा को अखिल भारतीय सेवा के रूप में स्थापित करने के उपक्रमस्वरूप सभी राज्यों में अधीनस्थ न्यायालयों की पुनर्संरचना समान आधार पर की जाने की सिफारिश करते हुए दो रिपोर्ट प्रस्तुत की हैं।[17]

कर्मचारी-भर्ती पैटर्न

3.18. यह कहना कि कार्य भार में वृद्धि के परिणामस्वरूप न्यायालय के कर्मचारीवृन्द में तत्समान वृद्धि होना चाहिए स्पष्टोक्ति करना है। किन्तु इस स्पष्ट स्थिति की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। न्यायालय कर्मचारीवृन्द दक्षता से कार्य कर सकें, इस दृष्टि से उनके लिए विशेष संवर्ग के वेतनमान अपेक्षित हैं, क्योंकि न्यायालय प्रशासन में असाधारण स्वरूप के कर्तव्य अन्तर्वलित हैं। किन्तु न्यायालय कर्मचारीवृन्द की भर्ती के लिए एकरूपता या वैज्ञानिक प्रतिरूप का अनुसरण नहीं करते। जबकि, जैसा पूर्व में बताया गया है, कुछ राज्यों द्वारा, कार्य के परिणाम में विहित न्यूनतम से परे वृद्धि हो जाने पर अतिरिक्त या नये न्यायालय स्थापित करने के लिए प्रतिमान या मार्गदर्शी सिद्धांत विहित किए गए हैं, फिर भी जब अतिरिक्त न्यायालय की स्वीकृति उसी समय नहीं दी जाती है, वर्धित कर्मचारीवृन्द स्वीकृत करने के प्रति उदासीनता रहती है और न्यायालयों को चपरासी तक का पद सृजित करने की शक्ति इस बनावटी आधार पर नहीं दी गई है कि उससे वित्तीय दायित्व पड़ता है जो राज्य सरकार के वित्त मंत्रालय की मंजूरी के

बिना उपगत नहीं किया जा सकता। उदाहरण के तौर पर, राजस्थान में एक लिपिक को जिसे 350 फाइलें संभालनी पड़ती थीं, अब 2,000 से 3,000 तक फाईलें संभालनी पड़ती हैं।[18] न्यायालय प्रशासन में कार्य करने के लिए अपेक्षित विशेष कुशलता को प्रकट करने वाली कोई विनिर्दिष्ट अर्हताएं विहित नहीं की गई हैं। इस संबंध में कोई यथार्थ प्राक्कलन नहीं है कि प्रत्येक अनुभाग के लिए कर्मचारीवृन्द की आवश्यकता क्या होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, उच्चतम न्यायालय में कनिष्ठ लिपिक वर्गीय कर्मचारी-वृन्द और चपरासियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है किन्तु अन्य कर्मचारीवृन्द में कोई तत्समान वृद्धि नहीं हुई। ऐसी वृद्धियों को समग्र नीति के भाग के रूप में देखा जाना चाहिए।[19]

3.19. इस पहलू पर अधिक सार्थकता से विचार करने की दृष्टि से, विधि आयोग ने न्यायपालिका के प्रत्येक स्तर पर कर्मचारी-भर्ती पैटर्न के संबंध में जानकारी मंगाई। अधिकांश राज्यों ने स्तरवार जानकारी न देते हुए कुल कर्मचारियों के आंकड़े दिए। आन्ध्र प्रदेश और पंजाब ने विहित कर्मचारी-भर्ती का पैटर्न बताया और इन दो राज्यों में कर्मचारी-भर्ती पैटर्न लगभग समान हैं, किन्तु कर्मचारियों की संख्या उस संख्या से अधिक है जो वित्त आयोग अतिरिक्त न्यायालय और उनके कर्मचारियों के लिए अनुज्ञात करता है। उदाहरण के तौर पर, पूर्वोक्त दो उच्च न्यायालयों के अधीन जिला न्यायालयों में आदेशिका तामीलकर्ता और परिचालकों के अतिरिक्त 35 सदस्यों का स्टाफ है।[20]

इसके विपरीत, वित्त आयोग प्रत्येक जिला न्यायालय के लिए 9 सदस्यों का अमला स्वीकृत करता है।[21] अन्तर इतना अधिक है कि उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसका स्पष्टीकरण कोई भी यह दे सकता है कि न्यायालय के कार्य का परिमाण विहित अधिकतम से बहुत अधिक है और इसलिए अतिरिक्त कर्मचारी स्वीकृत किए गए हैं।

3.20. न्यायपालिका के प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों की न्यूनतम आवश्यकता विहित होना चाहिए और उसके पश्चात् स्टाफ में वृद्धि की आवश्यकताओं का अवधारण वैज्ञानिक ढंग से किया जाना चाहिए। वर्तमान में, न्यायालय कोई निश्चित मानदण्ड का अनुसरण नहीं करते। अधिकांश राज्यों ने यह उत्तर दिया है कि कार्य का परिमाण विहित अधिकतम से अधिक होता है तो अतिरिक्त कर्मचारी नियोजित किए जाते हैं, किन्तु भर्ती किए जाने वाले कर्मचारीवृन्द के प्रकार का और स्वीकृत किए जाने वाले अतिरिक्त कर्मचारीवृन्द का अवधारण करने के लिए किसी वैज्ञानिक सिद्धांत का अनुसरण नहीं किया जा रहा है।[22] ऐसी तदर्थ यांत्रिकता से न्यायालय के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भर्ती किए जाने वाले कर्मचारीवृन्द का प्रकार विनिश्चित करने के लिए कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है।

3.21. भारत के उच्चतम न्यायालय और इलाहाबाद उच्च न्यायालय में कर्मचारीवृन्द की भर्ती के पैटर्न का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि वर्षों के दौरान चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अन्य उच्च न्यायालयों में स्थिति में बहुत अन्तर नहीं हो सकता। साधारणतः, अधिकांश उच्च न्यायालयों में, आधारिक स्तर पर प्रवेश के पश्चात्, कर्मचारी-वृन्द में प्रोन्नति द्वारा ऊर्ध्व वृद्धि होती है। एक कर्मचारी, जिस ने सहायक के रूप में प्रवेश किया था, आशुलिपि की अर्हता प्राप्त करने के पश्चात्, उच्चतम न्यायालय में रजिस्ट्रार के सर्वोच्च स्थान पर पहुंच गया। कुछ वर्ष पूर्व, राज्य न्यायिक सेवा के एक ज्येष्ठ जिला न्यायाधीश को भारत के उच्चतम न्यायालय का रजिस्ट्रार नियुक्त किया गया था। वह परिपाटी बन्द कर दी गई थी किन्तु अभी हाल में ही, रजिस्ट्रार जनरल का पद सृजित किया गया है और उस पद के लिए राज्य न्यायिक सेवा के जिला न्यायाधीश की पद-श्रेणी के न्यायिक अधिकारी को पदस्थ किया गया है। पूर्वस्थ प्रोन्नति की पद्धति इस धारणा के आधार न्यायोचित थी कि उच्चतम पद तक ले जाने वाली ऊर्ध्वगामी यात्रा के दौरान, कर्मचारीवृन्द के ये सदस्य बहुत अनुभव प्राप्त कर लेते हैं और उच्चतम स्तर के पद का कार्य संभालने के लिए परिपक्व हो जाते हैं। तथापि, ऊर्ध्वगामी गति के कारण वे कठोर और संकुचित दृष्टिकोण वाले और यथास्थिति-वादी भी हो जाते हैं। जबकि संस्था विकसित होती है, संस्था का आकार दक्षता, रचनात्मक कल्पना और पहल की अपेक्षा करता है। निम्नतम से उच्चतम स्तर तक पहुंचने वाले कर्मचारीवृन्द से, जिनमें न्यायालय की संरचना के बाहर किसी प्रशासनिक और प्रबंधकीय कौशल का सर्वथा अभाव होता है, इसकी प्रत्याशा नहीं की जा सकती।[23]

3.22. यह विख्यात है कि सामान्य अर्हताओं के आधार पर भर्ती किए गए कर्मचारीवृन्द को सेवा-कालीन प्रशिक्षण देने के लिए कोई इन्तजाम नहीं है। दक्षता के अनुपात को उन्नत करने के लिए, न्यायालयों

में काम करने के लिए उन कर्मचारियों का चयन किया जाना चाहिए जिनके पास कुछ विशेष अर्हताएं हों और जो व्यवस्थित रीति में प्रशिक्षित हों। यह दृष्टिकोण, विहित उच्च अर्हताओं के साथ व्यवस्थित भर्ती, सेवाकालीन प्रशिक्षण और उच्च विशेषज्ञता को आवश्यक बना देता है। इस विशेषज्ञता को लागू की जाने वाली नई प्रोद्योगिकी और कृत्यिक मांग के साथ जोड़ा जाना चाहिए। अतः, न्यायालय प्रबंधकों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम/कार्यशालाओं/सम्मेलनों का विकास किया जाना चाहिए ताकि वे न्यायालय प्रबंध के सिद्धांतों के व्यापक कार्य और न्यायालय प्रबंधकों के स्तर, अर्हताओं और कृत्यों के विकास में सहायता दे सकें।

3.23. इस बात का उल्लेख करना कुछ सीमा तक उपयोगी हो सकता है कि रजिस्ट्रार के पद पर, जो राज्य की न्यायिक सेवा का सर्वोच्च अनुसचिवीय अधिकारी है, वरिष्ठ जिला न्यायाधीश की नियुक्ति की जानी चाहिए। रजिस्ट्रार को अविवादित स्वरूप के न्यायिक कृत्य भी सौंपे जाते हैं। इस भूमिका का उनके द्वारा प्रशंसनीय ढंग से निर्वाह किया जाता है।

3.24. जटिल आन्तरिक और बाह्य पर्यावरणात्मक तन्त्र न्यायालयों की प्रशासनिक मशीनरी पर दबाव डालता है। प्रबंध दक्षता के लिए विशिष्ट मांगे उत्पन्न होती हैं जिनकी पूर्ति साधारण प्रशासनिक कार्य के माध्यम से नहीं हो सकती। न्यायालय उतने ही जटिल हैं जितने समकालीन समाज के अन्य संगठन। प्रबंध सफलता की औसत मात्रा केवल तभी संभव है जब प्रबंधकीय समस्याओं के लिए दक्ष प्रबंधकीय कौशल काम में लाया जाए।[24]

प्रणाली का प्रबंध[25]

3.25. जिस रूप में यह प्रणाली वर्तमान में कार्य कर रही है, उसमें न्यायाधीशों को भी न्यायालय और न्याय प्रणाली के प्रबंध का कार्य करना पड़ता है। न्यायाधीश विधि के क्षेत्र में प्रशिक्षित होते हैं और अनुभव से न्यायनिर्णयन और न्यायिक विनिश्चय की प्रक्रिया में विशेषज्ञ हो जाते हैं। जब उनकी भर्ती बार से की जाती है, तब उन्हें न्यायालय और न्यायालय प्रणाली की प्रबंध पद्धतियों का अल्प ज्ञान होता है या बिल्कुल ज्ञान नहीं होता। न्यायाधीश के रूप में भर्ती किए जाने के पश्चात्, आधुनिक पद्धतियों के प्रशिक्षण के लिए कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। अतः उनमें प्रशासनिक विषयों के अनुभव का अभाव होता है। कदाचित यह आशा करना न्यायोचित नहीं है कि कोई व्यक्ति, जिसे अल्प प्रशासनिक प्रशिक्षण, अनुभव या विशेषज्ञता प्राप्त है, बिना प्रशिक्षण के ही हमारे न्यायालयों के समान जटिल प्रणाली सफलता पूर्वक प्रबंध करने का कौशल अर्जित कर लेगा। इसका अन्तर्निहित तात्पर्य यह है कि अकेले ही न्यायालयों का प्रबंध करने के लिए न्यायाधीश आवश्यक रूप से सर्वोत्तम नहीं हैं।

3.26. यदि न्यायाधीश अपनी ही पदश्रेणी में प्रबंधकीय विशेषज्ञता विकसित कर लेते हैं तो संभवतः वे न्यायालयों का सीधे ही प्रबंध करने के लिए सर्वोत्तम रूप से अर्हित व्यक्ति हैं, क्योंकि वे प्रणाली के उस शाखा विभाजन को समझने की स्थिति में होते हैं जो प्रशासनिक विनिश्चय द्वारा अस्तित्व में लाया जा सकता है। किन्तु प्रबंधकीय कौशल और विशेषज्ञता का विकास रातोंरात हासिल नहीं किया जा सकता और यह विस्तृत नहीं किया जाना चाहिए कि विनिश्चयकारी प्रक्रिया और न्याय निर्णयन के प्रक्रम न्यायाधीशों को बहुत व्यस्त रखते हैं। उनके पास प्रबंधकीय विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए कोई अतिरिक्त समय नहीं होता। यदि वे अन्ततः प्रशासनिक कौशल प्राप्त कर भी लेते हैं तो उनके पास न्यायालयों का प्रशासन और अपने न्यायनिर्णयन संबंधी कृत्य दोनों करने का समय नहीं हो सकता।

3.27. न्यायालय प्रबंध में विशेषज्ञता ही सर्वाधिक हल है। तथापि, प्रश्न यह है कि क्या न्यायिक जनशक्ति पर वर्तमान दबाव और नियुक्त किए जाने वाले न्यायाधीशों की संख्या में बड़े पैमाने पर वृद्धि की असंभाव्यता की स्थिति में यह व्यावहारिक रूप से साध्य है। अतः, न्यायालयों का प्रबंध करने के लिए वैकल्पिक कर्मचारियों के चयन किए जाने की संभाव्यता का पता लगाया जाना चाहिए।

नये वृत्तिक वर्ग का सृजन—न्यायालय प्रबंधक

3.28. न्यायालय प्रबंधकों को न्यायालयों का प्रबन्ध करने का नियंत्रण सौंपा जाना चाहिए। व्यक्ति को आवश्यक रूप से उच्च अर्हता प्राप्त होना चाहिए। विशेषज्ञता के उसके क्षेत्रों में अन्य बातों के साथ स्थूल प्रबंधकीय कौशल, न्यायिक प्रणाली की संरचना का ज्ञान, विधिक प्रक्रियाओं की जानकारी,

कम्प्यूटर विज्ञान और आधार सामग्री के संसाधन के तकनीकों और कौशल तथा कार्मिकों की भर्ती और पदांकन की समझ सम्मिलित होनी चाहिए। ऐसा उच्च अर्हता प्राप्त विशेषज्ञ तैयार होने में बहुत समय लग सकता है। तथापि, न्यायालयों के समान विशाल और जटिल संगठन के उचित और दक्ष प्रबंध के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे ज्ञानी प्रशासकों को तैयार और प्रशिक्षित किया जाए। संक्षेप में, एक नये वृत्तिक वर्ग का सृजन करना होगा। व्यक्तियों को न्यायालय प्रबंधकों के रूप में प्रशिक्षित करने के लिए अन्तर अनुशासनिक शिक्षा कार्यक्रम तैयार किए जाने चाहिए।

3.29. न्यायालय की प्रबंध नीति निर्धारित करने का प्रमुख उत्तरदायित्व न्यायपालिका का ही रहेगा और यह सुनिश्चित करना न्यायालय प्रबंधक का काम होगा कि उन नीतियों का (न्यायपालिका के पर्यवेक्षण और संवीक्षा के अधीन) पालन किया जाता है।

3.30. इस प्रकार यह प्रकट होता है कि न्यायिक प्रशासन में सुधार लाने के लिए प्रबंध परामर्शक और अन्य विशेषज्ञों का उपयोग अपरिहार्य है जो इस विषय पर अपना ज्ञान संबद्ध कर सकते हैं। न्यायालय प्रबंधकों के सिवाय, जो आवश्यक है वह "राष्ट्रीय न्यायिक केन्द्र" है जो —

(क) न्यायालय कर्मचारीवृन्द, उनकी सेवा शर्तों ;

(ख) नये कर्मचारीवृन्द के लिए प्रशिक्षण प्रक्रिया;

(ग) प्रमाणीकृत न्यायालय कक्ष सुविधाओं; और

(घ) राष्ट्रीय नियमित और विस्तृत आधार पर मामलों का कम्प्यूटरों में अभिलेखन,

के समन्वय और विकास के लिए राष्ट्रीय न्यायिक सेवा आयोग का (आयोग केवल न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति और प्रशिक्षण का कार्य नहीं करेगा) भाग बन सकता है।

3.31. न्यायालय में यन्त्रीकरण और आधुनिक न्यायालय प्रबंध प्रणालियों के लागू किए जाने में बहुत अधिक विलम्ब हो गया है। टेप रिकार्डर, डिक्टाफोन, जेराक्सिंग मशीन, केलकुलेटर, कम्प्यूटर, माइक्रोफोन और अन्य यंत्रों की श्रेणी का जब उपयोग किया जाने लगेगा तब उससे न्यायालय के परिहार्य समय में कमी आएगी और उस समय की बचत होगी जो प्रशासन की वर्तमान पद्धतियों में लगता है। शिलीभूत न्यायालय प्रणाली को हटाया जा सकता है और नई प्रोद्योगिकी का सूत्रपात किया जा सकता है, जिससे गतिशीलता आएगी और मालों की अन्तर्प्रवाह संक्रिया सुव्यवस्थित होगी।

कम्प्यूटर और अन्य प्रौद्योगिकीय उपकरण

3.32. नई प्रबंध प्रोद्योगिकी में सबसे अधिक परिष्कृत कम्प्यूटर है। कम्प्यूटर न्यायालय कार्यवाहियों को दक्षतापूर्वक शीघ्रगामी बनाते हैं।

3.33. आधार सामग्री का संसाधन वह प्रमुख उपयोग है जिसके लिए कम्प्यूटर का प्रयोग संचित कार्य को कम करने और न्यायालय की कार्यक्षमता बढ़ाने के प्रयत्न में किया जाता है। आयोजना में, आधार सामग्री कार्यक्रम अपनाने के लिए तीन आवश्यक उपाय अवश्य किए जाने चाहिए :—

(1) प्रत्येक मामले की प्रत्येक कार्यवाही की रिपोर्टिंग की प्रणाली योजना तैयार करना आवश्यक है।

(2) यह अवश्य अवधारित किया जाना चाहिए कि कौन सा इलेक्ट्रानिक उपस्कर आवश्यक है।

(3) पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित ऐसे कर्मचारीवृन्द का होना आवश्यक है जो उपस्कर द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली जानकारी के संबंध में कार्यवाही करने में समर्थ हों। कुशल आपरेटरों द्वारा चलाया जाने वाले समुचित कार्यक्रम से युक्त कम्प्यूटर असंख्य तुलनाएं और जानकारी प्रस्तुत कर सकता है, जो न्यायालयों को मामलों पर बेहतर नियंत्रण रखने और संचित कार्य को कम करने के लिए समर्थ बनाएगा।[2]

3.34. न्यायालय, जिनके क्रियाकलाप की मात्रा बहुत अधिक है, आधार सामग्री संसाधन के लिए अनुकलनशील हैं, क्योंकि ऐसा कार्यक्रम न्यायालय के अभिलेखों को अद्यतन बनाए रखने के लिए कर्मचारियों की आवश्यक संख्या को कम करता है और उससे बोझिल नस्तीकरण उपस्कर में एक बड़ी सीमा तक कमी होगी जिससे अभिलेख रखने के लिए स्थान की आवश्यकता भी कम होगी।[27]

3.35. आधार सामग्री संसाधन ने यातायात न्यायालयों में मोटर यान उल्लंघन संबंधी प्रक्रिया को गतिशील बनाया है, और सिविल साइड में उसने कार्यानुसूची विवाद को रोकने के लिए अटर्नियों और बीमा कंपनियों के लिए मूल्यवान जानकारी और आंकड़े उपलब्ध कराए हैं।[28]

3.36. कम्प्यूटर, न्यायालय के कार्यानुसूचीकरण में भी दक्षता को बढ़ा सकता है, क्योंकि संकुलता और न्यायालय की परस्पर विरोधी कार्यानुसूचियों के कारण न्यायालयीन कार्यवाहियों में विलंब होता है।[29] कम्प्यूटर न केवल न्याय प्रशासन के लिपिकीय पहलू में सुधार लाने के लिए उपयोग में लाए जा सकते हैं वरन् निर्णयजे विधि और विधिक सामग्री पुनः प्राप्त करने की खोज में भी सहायक हो सकता है। कानूनों में बार-बार होने वाले संशोधनों को दृष्टिगत रखते हुए, पश्चात्कथित कार्य अपेक्षाकृत रूप से अधिक आवश्यक है।[30]

3.37. न्यायालयों में कम्प्यूटर न्यायालय-संक्रियाओं के विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए ऐसा सामर्थ प्रदान कर सकते हैं जिसके बारे में अभी तक सुना नहीं गया है। कम्प्यूटर का उपयोग न्यायालयों और न्याय प्रक्रिया के प्रणालीगत विश्लेषण को सुकर बनाता है। प्रणालीमान विश्लेषण, प्रणाली के भागों के बीच कार्यकारी संबंधों का परीक्षण यह अवधारित करने की दृष्टि से करता है कि वे एक साथ मिलकर किस प्रकार कार्य कर सकते हैं, क्योंकि प्रणाली को उसके भागों के यौगिक के रूप में रखा जाता है। साथ ही सूक्ष्म विवरण तैयार करने में, प्रणालीगत विश्लेषण का परिप्रेक्ष्य, भूमण्डलीय या प्रणाली व्यापी होता है। सम्पूर्ण प्रणाली के भाग जहां तक कि वे प्रणाली के लक्ष्यों की प्राप्ति में योग देते हैं महत्वपूर्ण हैं।

3.38. प्रणाली के विश्लेषण का अंतिम उद्देश्य उसकी प्रभावशीलता अवधारित करना है। प्रभावशीलता का मापन इस बात से किया जाता है कि उसका प्रचालन, जिसके अन्तर्गत प्रक्रिया के प्रक्रमों के बीच बिलंब की उपस्थिति या अभाव भी हैं, कितने अच्छे ढंग से होता है। प्रभावशीलता की माप कार्यभार और उस कार्यभार को उत्पन्न करने के खर्च के अनुसार की जा सकती है। प्रणाली संकल्पना ने कम्प्यूटर के साथ मिल कर दैनिक संक्रियाओं से बाहर दीर्घकालिक विचारणा, अर्थात् आयोजना और अनुसंधान के लिए विवश करना प्रारंभ कर दिया है।[31]

3.39. विदेशों में अनेक न्यायालयों ने अपनी जानकारी प्रणाली को कम्प्यूटरीकृत करना उपयोगी समझा है। तथापि, यह याद रखना आवश्यक है कि न्यायालय की विलंब की समस्या को हल करने के लिए न्यायालय में कोई कम्प्यूटर नहीं लाया जा सकता। जब तक न्यायालय के पास विलंब को कम करने की कोई योजना न हो, तब तक न्यायालय कम्प्यूटर प्रोग्रामर्स को यह नहीं बता पाएंगे कि कौन सी जानकारी एकत्रित की जानी है और कौनसी रिपोर्टें प्राप्त की जानी हैं। कम्प्यूटरों ने बहुधा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जब उसके साथ न्यायालयों द्वारा कार्यदक्ष प्रकरण-अन्त प्रवाह प्रबंध के माध्यम से बिलंब कम करने के प्रयास संयुक्त किए गए हैं, किन्तु कम्प्यूटर तब असफल रहे हैं जब उन्हें न्यायालय में मानव द्वारा अपेक्षित कठिन कार्य और योजना के स्थान पर स्थापित किया गया है।[32]

न्यायालय अभिलेख

3.40. न्यायालय अभिलेख, प्रत्येक उच्च न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार रखे जाते हैं। साधारणतः, अभिलेख फाइलों में रखे जाते हैं। फाइलों पर क्रमांक डाले जाते हैं और फिर उन्हें स्टील अलमारियों या रैकों में रखा जाता है। अभिलेखों के कुछ भाग को कुछ अवधि के लिए रखे जाने का उपबंध है और कुछ स्थायी रूप से रखे जाते हैं। इस संग्रहण से बहुत जगह घिर जाती है, जो पहले से ही कम है। विधि आयोग को कुछ न्यायालयों से यह जानकारी मिली है कि संग्रहण के स्थान के अभाव के कारण न्यायालय अभिलेख की फाइलें और बस्ते फर्शों पर पड़े हैं। फाइलें ढीले कागज-पत्रकों के साथ

रखी जाती हैं; जिनमें बड़ी आसानी से हेरफेर की जा सकती है। इस प्रकार संग्रहण की इस पद्धति से न केवल कीड़ों और नाशककीटों से अभिलेखों के विकृत होने की संभावना रहती है, वरन् उन्हें बिगाड़े जाने का भी अंदेशा रहता है। भारत में किसी भी न्यायालय ने न्यायालय अभिलेखों के संग्रहण के लिए आधुनिक प्रोद्योगिकी का प्रयोग प्रारंभ नहीं किया है।[33]

3.41. बीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के न्यायालयों को आधुनिक अभिलेख प्रणालियों और इन अभिलेखों से जानकारी हस्तगत करने की दक्ष प्रक्रियाओं की आवश्यकता है। रखी गई आधार सामग्री की गोपनीयता, प्रच्छन्नता और सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए उसके पास अन्तर्निमित नियंत्रण होना चाहिए। उसके पास प्रतिधारण और निपटारे की सजग नीति होनी चाहिए[34]

माइक्रोफिल्म

3.42. न्यायालय सुविधाओं और कर्मचारियों का बेहतर उपयोग करने की दृष्टि से न्यायालय अभिलेखों की दक्ष व्यवस्था करने के लिए माइक्रोफिल्म का उपयोग एक अन्य तरीका है। इस पद्धति के अनेक लाभ हैं : न्यायालय अभिलेखों के लिए अधिक स्थान उपलब्ध होता है; न्यायालय अभिलेखों की साजसंभाल करने में सुगमता होती है; दस्तावेजों के खोने या बिगाड़े जाने का खतरा कम रहता है और वह न्यायालय कार्मिकों के अधिक दक्षतापूर्ण उपयोग को सुकर बनाती है।[35] (संक्षेप में, माइक्रोफिल्म, उसके दो रोल तैयार करा लिए जाकर, दस्तावेजों की हानि या उनमें परिवर्तन को रोकने के लिए सुरक्षा उपाय के रूप में कार्य करेगी। निगेटिव तुरन्त राज्य अभिलेखागार को प्रदत्त कर दिया जाता है और पाजिटिव रोल फाइल किए जाने के लिए न्यायालय को भेज दिया जाता है।)[36]

3.43. विदेश में माइक्रोफिल्मीकरण अनेक न्यायालयों द्वारा अपनाया जाता है, किन्तु उसका उपयोग चयनात्मक होना चाहिए। उसका निर्णय सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए। माइक्रोफिल्म धुंधली और अपठनीय प्रति बना सकती है और समय के साथ उसमें खराबी आ सकती है। अतः उपयोगकर्ता को इस प्रोद्योगिकी का प्रयोग करने के संबंध में जानकारी होना चाहिए और उसे उसका उपयोग करने में विभेदकारी होना चाहिए।। न्यायालय अभिलेखों को परिरक्षित करने के लिए अन्य परिष्कृत प्रोद्योगिकियां हैं, जैसे सुगम संग्रहण और प्राप्ति आदि को सुकर बनाने के लिए फाइलिंग प्रणाली और कलर कोडिंग की प्रणाली लागू करना। प्रत्येक न्यायालय को यह विनिश्चित करना चाहिए कि बाजार में क्या उपबन्ध है और उसकी आवश्यकता के अनुकूल क्या है।

अध्याय 4

न्यायालयों के लिए वित्तीय उपशामक

4.1. यह पूर्णतः स्पष्ट है कि न्यायालयों के लिए उपलब्ध संसाधन, जनशक्ति और सामग्री दोनों, कष्टप्रद रूप से अपर्याप्त हैं। विधि के शासन पर आधारित सांवैधानिक लोकतन्त्र द्वारा आधारभूत विधिक अधिकारों के अवधारण के लिए पर्याप्त सुविधाएं आवश्यक रूप से उपलब्ध कराई जानी चाहिए। विधि का शासन वहां जीवित रहता है जहां उसका अतिक्रमण और उतलंघन न्यायालयों द्वारा उपचार्य हो। यदि न्यायालय कार्य के बोझ से दबे हुए हैं और अन्याय का शीघ्रता और कार्यक्षम रूप से प्रतितोषण करने में समर्थ नहीं हैं तो उससे संवैधानिक लोकतन्त्र के लिए ही संकट पैदा हो जाएगा। एक बार विधि के शासन के प्रति सम्मान का ह्रास या अभाव होने पर, संवैधानिक लोकतन्त्र का आधार अस्त-व्यस्त हो जाता है। लोकतन्त्र के स्वस्थ अस्तित्व के बने रहने के लिए दक्ष अवेक्षा प्रणाली एक पूर्वापेक्षा है और न्यायालय प्रणाली को, इस हेतु से कि वह अपनी उपयोगिता का औचित्य प्रतिपादित कर सके शीघ्र, प्रभावशाली और समुचित न्याय देने के लिए सक्षम होना चाहिए। जैसाकि विधि आयोग द्वारा न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट[1] में बताया जा चुका है, भारत में न्यायाधीशों और जनसंख्या का अनुपात अत्यन्त अपर्याप्त है और उसमें आगामी पांच वर्षों में कम से कम पांच प्रतिशत की वृद्धि की जानी चाहिए। यदि यह सिफारिश प्रभावी ढंग से कार्यान्वित की जाती है तो, सर्वप्राथमिकता के आधार पर नये न्यायालय, अतिरिक्त अर्हित कर्मचारीवृन्द, कर्मचारियों की भरती के पैटर्न को सुप्रवाही बनाना, आधुनिक कार्यालयीन उपस्करों की व्यवस्था और इन सबसे अधिक न्यायाधीशों और कर्मचारियों की सेवा शर्तों को आकर्षक बनाना आवश्यक होगा। इन सभी शीर्षों के अधीन निवेश के लिए निधियों की आवश्यकता होगी और विधि आयोग इस बात के प्रति सजग है कि उनकी पूर्ति बहुत कम है और सुगमता से उपलब्ध नहीं है।

4.2. लोक निधियों के संवितरण की सूची में न्याय प्रणाली का स्थान ऊंचा नहीं है। न्याय प्रशासन पर होने वाले व्यय को अभी भी योजनेतर व्यय के रूप में रखा जाता है।

4.3. भारत के उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन भारत की संचित निधि पर भारित व्यय है।[2] इसी प्रकार, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन राज्य की संचित निधि पर भारित है।[3] उच्चतम न्यायालय का प्रशासनिक व्यय भी, जिसके अन्तर्गत न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों का उनके सम्बन्ध में देय समस्त वेतन, भत्ते और पेंशनें भी हैं, भारत की संचित निधि पर भारित व्यय है।[4] उच्च न्यायालयों के प्रशासनिक व्यय के सम्बन्ध में भी तत्सदृश उपबन्ध है।[5]

4.4. भारत की या राज्य की संचित निधि पर भारित निधियों के सिवाय, उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा अपनी प्रशासनिक स्थापना के संधारण के लिए आवश्यक कुछ अतिरिक्त निधियां यथास्थिति लोकसभा या राज्य विधान सभा द्वारा मतदत्त होती हैं। इस सम्बन्ध में, न्यायालय प्रणाली एक बड़ी सीमा तक विधान-मण्डल की दया पर है, क्योंकि मतदेय निधियों में प्रति वर्ष परिवर्तन हो सकता है। औपचारिक रूप से, बजट प्रस्ताव यथास्थिति उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय से उद्भूत हो सकता है, किन्तु सम्बन्धित मन्त्रालय ने वित्तीय और प्रबन्धकीय प्रश्नों पर द्विपक्षीय संवाद की कोई व्यवस्था नहीं की है।[6] भारत के उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय से बजट प्राप्त होने पर, मतदेय मदों से सम्बन्धित रकम सम्बन्धित मन्त्रालय द्वारा पुनः नियत की जाती है। वहां कुछ कटौतियां और परिवर्तन किए जाते हैं। पुनरीक्षित प्रस्ताव वित्त मन्त्रालय को भेजा जाता है जिसकी स्वयं की सीमाएं और बन्धन होते हैं और अन्ततः जो वास्तविक बजट पारित होता है और न्यायालय को दिया जाता है, वह न केवल प्रस्तावित बजट से बहुत कम होता है वरन् न्यूनतम आवश्यकता से भी बहुत कम होता है। इन विभागों की कार्रवाई में, जिन्हें न्यायालयों की आवश्यकताओं का कोई अन्दाजा नहीं होता, पूरा श्रम सौदेबाजी की घटना बन कर रह जाता है और न्यायालय के प्रतिनिधि, यदि उनसे परामर्श किया भी जाता है, उसकी पहल शक्ति पर निर्भर करते हुए, स्थिति को दोनों ही तरफ मोड़ सकते हैं। कठोर तथ्य यह

है कि न्यायालय को निधियों के मामले में कुछ कहने का अवसर ही नहीं होता। और इस स्थिति ने न्यायिक सेवाओं की वृद्धि और प्रसार में निरन्तर बाधा डाली है। यह वह धूमिल क्षेत्र है जो कार्यपालिका और न्यायपालिका के सम्बन्धों में स्पष्टतः से परिलक्षित होता है।

4.5. सन् 1973 से, और विशेषतः केशवानन्द भारती के मामले में, जिसे सार्वजनिक रूप से मूल अधिकारों के मामले के नाम से जाना जाता है, निर्णय और पश्चात्वर्ती प्रथम अतिष्ठान के पश्चात्, साधारणतः न्यायपालिका ने और विशेषतः भारत के उच्चतम न्यायालय ने उच्च दृश्यमान छवि प्राप्त की है। संकरी प्रसाद सिंग वि. भारत संघ[8] और सज्जनसिंग वि. राजस्थान[9] राज्य के निर्णयों ने भारत के संविधान के किसी भी भाग को, जिसके अन्तर्गत मूल अधिकार भी हैं, संशोधित करने की संसद् की शक्ति की पुष्टि की जिसने इस वादविवाद को जन्म दिया कि न्यायालय ने न्यायपालिका पर संसद् की प्रभुता को स्वीकार कर लिया है। परिणामस्वरूप, कार्यपालिका ने न्यायपालिका की सापेक्ष स्वायतत्ता के प्रति अपना सम्मान बनाए रखा। केशवानन्द भारती के मामले में, न्यायालय ने स्वल्प बहुमत से, जबकि भारत के संविधान के किसी भी भाग को संशोधित करने की संसद् की शक्ति को स्वीकार करते हुए यह व्यवस्था दी कि संविधान की बुनियादी संरचना/लक्षण संसद की संशोधन शक्ति के परे है, जिसमें अन्य बातों के साथ न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति भी है। विधि शास्त्रियों ने, न्यायालय के कार्यकरण के संबंध में लिखते हुए और न्यायालय की न्यायिक प्रक्रिया के वीक्षकों ने कार्यपालिका से न्यायपालिका को उद्भूत होने वाले कुछ खतरों को महसूस किया है।[10] विधि शास्त्रियों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों का एक पूर्व अवसर पर परीक्षण करते हुए, विधि आयोग ने उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय की नियुक्ति की शक्ति और प्रक्रिया का पुनर्विलोकन किया है और उसमें कथित विस्तृत कारणों से वरिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये एक नये फोरम की सिफारिश की है। अन्तर्निहित उद्देश्य न्यायपालिका को नियुक्तियों, कर्मचारियों की भरती के तरीकों, न्याय प्रशासन पर आवश्यक लागत, आदि के विषय में आत्मवलंबी बनाना है।[11]

4.6. उन विधिशास्त्रियों ने, जो न्यायपालिक स्वतंत्रता को बहुमूल्य समझते हैं, सदैव यह खेद व्यक्त किया है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता की कसौटी निधियों की शक्ति है जो खेदजनक रूप से उसके पास नहीं है। न्यायपालिका से उद्भूत होने वाला प्रत्येक प्रस्ताव, अमतदेय मदों को छोड़कर, जो वित्तीय बाध्यता आरोपित करता है, केवल तभी कार्यान्वित किया जा सकता है जब वह कार्यपालिका द्वारा अनुमोदित कर दिया जाए और कार्यपालिका को उपलब्ध संसाधनों के संवितरण की उसकी प्राथमिकता में न्याय प्रशासन बहुत नीचे रहता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता का गंभीर रूप से ह्रास हो सकता है यदि उसके दक्ष और स्वतंत्र कार्यकरण के लिये अपेक्षित वित्तीय संसाधन उपलब्ध नहीं होते। न्यायालयों में सभी स्तरों पर लंबित मामलों के प्रपुंज का कारण अंशतः अपर्याप्त अवसंरचात्मक सुविधाओं को माना जा सकता है, जिनसे अपर्याप्त और समय पर उपलब्ध न कराई जाने वाली निधियों के कारण समझौता करना पड़ता है। न्यायालयों को निधियां प्रदान करने पर सार्वजनिक रूप से बहुत कम ध्यान दिया जाता है और न्यायपालिका की अधिकांश स्वतन्त्रता मौन रहते हुए छीन ली जाती है।[12] दुर्भाग्य यह है कि जब सम्बन्धित मन्त्रालय के सम्बन्ध में अनुदानों की मांगों पर, जिनमें न्यायालयों अर्थात् न्याय प्रशासन से सम्बन्धित प्रस्ताव भी सम्मिलित होते हैं, मतदान होता है तब सदस्यों को यह जानकारी नहीं दी जाती है कि न्यायालयों द्वारा अपने बजट प्रस्तावों में क्या आवश्यकताएं बताई गई थीं और सम्बन्धित मन्त्रालय द्वारा उनमें क्या फेरबदल किन कारणों से किया गया है और क्या प्रत्यावर्तन सम्भव है। इसके अतिरिक्त, न्यायपालिका की राय संसद् को उपलब्ध नहीं कराई जाती। मामला इस अर्थ में न्यायपालिका के प्रतिनिधित्व के बिना ही निर्णीत हो जाता है कि सम्बन्धित मन्त्रालय न्यायपालिका की आवश्यकताओं का अन्तिम निर्णायक बन जाता है। अवैज्ञानिक होने के सिवाए, सांवैधानिक लोकतन्त्र के तीसरे सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग, अर्थात् न्यायपालिका को अपने साधारण, संपोषण और वृद्धि और प्रसार, आदि के लिये निधियों के संवितरण में अधिकारपूर्वक कुछ कहने का अवसर नहीं होता।

4.7. इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण वस्तुस्थिति पर प्रामाणिक रूप से प्रकाश डाल सकते हैं। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति ने यह इच्छा व्यक्त की कि न्यायालय के कर्मचारियों को, वेतनमानों के विषय में, कार्यपालिक सरकार के सचिवालयीन सेवा के उनके प्रतिस्थानी कर्मचारियों के समकक्ष रखा जाए। निश्चित रूप से अनुच्छेद 229 उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को उच्च

न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति करने के लिए सशक्त करता है। अनुच्छेद 229 के खण्ड (2) में यह उपबन्ध है कि राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अध्यधीन रहते हुए, उच्च न्यायालय के अधिकारियों और सेवक की सेवा शर्तें ऐसी होंगी जो उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा विहित की जाएं, परन्तु इस खण्ड के अधीन बनाए गए नियमों के लिए, जहां तक वे वेतनमानों, भत्तों/छुट्टी या पेंशनों से सम्बन्धित हैं, राज्य के राज्यपाल के अनुमोदन की अपेक्षा होगी, जिसका अभिप्राय वास्तविक कार्यकरण में राज्य मंत्रिमण्डल से है। राज्य सरकार के नकारात्मक रवैये से व्यथित कर्मचारियों ने राज्य सरकार के विरुद्ध यह निदेश देने वाली परमादेश रिट जारी किए जाने की प्रार्थना करते हुए रिट पिटीशन फाइल की कि राज्य सरकार अनुच्छेद 229 के अधीन मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई सिफारिशों को कार्यान्वित करे। कर्मचारियों के संघ का निवेदन यह था कि आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय सेवा नियम 19 के साथ पठित अनुच्छेद 229(1) द्वारा मुख्य न्यायमूर्ति को न केवल न्यायालयों के अधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति करने के लिये सशक्त किया गया है वरन् उनकी सेवा शर्तें विहित करने के लिये भी और राज्यपाल ने रिट पिटीशन मंजूर कर ली और परमादेश जारी किए जाने का निदेश दिया। उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाण-पत्र दिए जाने पर, मामला उच्चतम न्यायालय के समक्ष आया।[13] उच्चतम न्यायालय ने, यद्यपि मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों को न मानने के राज्य सरकार के दृष्टिकोण की निन्दा की किन्तु अनुच्छेद 229 का निर्वचन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 229 द्वारा अनुध्यात राज्यपाल का अनुमोदन मात्र औपचारिकता नहीं है वरन् सारवान है। इस निर्णय के परिणाम को इस संप्रेक्षण द्वारा भली-भांति व्यक्त किया जा सकता है कि निधियों की शक्ति के बिना कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है। कुछ सीमा तक इन उपबन्धों ने न्याय प्रशासन को अत्याधिक निष्फल कर दिया है।

4.8. इसके पूर्णतया विपरीत मत देहली उच्च न्यायालय द्वारा प्रकट किया गया था जब उसने यह व्यवस्था दी कि सांवैधानिक उपबन्ध के अलावा, कार्यकालिका को अनुच्छेद 229 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा की गई सिफारिश को परम्परा के रूप में स्वीकार करना चाहिए और उसे किसी सरकारी अधिकारी द्वारा की गई सिफारिश के समकक्ष नहीं मानना चाहिए।[14] यह संप्रेक्षण करने का अवसर तब उद्भूत हुआ जब केन्द्र और दिल्ली प्रशासन के अपने प्रतिस्थानियों के साथ वेतन की समानता की दीर्घकाल से मांग करने वाले दिल्ली उच्च न्यायालय के कर्मचारियों ने इस सम्बन्ध में समावेदन किया। कार्यपालिका द्वारा इसका दृढ़ता से विरोध किया गया। उच्च न्यायालय ने समानता लाने लिए परमादेश जारी किया। न्यायालय ने विचार व्यक्त किया कि लोगों की सार्वभौमिकता संविधान के तीन अंगों—विधान मण्डल, कार्यकालिका और न्यायपालिका—में प्रतिबिम्बित होती है। मुख्य न्यायमूर्ति न्यायपालिका का प्रमुख है। अतः जब वह सिफारिश करता है तो आवश्यक रूप से उपधारणा यह होती है कि वह पूरे उत्तरदायित्व और सावधानी की भावना से और विभिन्न लोक हितों और अन्तर्वलित विभिन्न वित्तीय पहलुओं पर सम्यक् विचार करने के पश्चात् की गई है। अपवादात्मक परिस्थितियों को छोड़कर, मुख्य न्यायमूर्ति की सिफारिशों को आबद्धकर और स्वीकार्य माना जाना चाहिए। यदि सरकार का अनुमोदन बाह्य और असंगत आधार पर या अनमाने या भेदभावपूर्वक रोक लिया जाता है या नहीं दिया जाता है तो वह संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 द्वारा अधिकथित समानता के सिद्धान्तों के उल्लंघन की कोटि में आएगा और परमादेश जारी किया जा सकता है।[15]

4.9. उच्चतम न्यायालय कर्मचारी कल्याण संघ एक लम्बे समय से उन वेतनमानों और भत्तों का, जो दिल्ली उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारीवृन्द के सदस्यों के लिये प्रचलित थे, लाभ दिए जाने और संवर्गवार समानता स्थापित किए जाने की मांग कर रहा था। भारत के मुख्य न्यायमूर्ति ने एक समिति नियुक्त की थी जिसने यह सिफारिश की थी कि भारत के उच्चतम न्यायालय की रजिस्ट्री के अधिकारियों और कर्मचारियों के वेतनमानों के पुनरीक्षण का प्रश्न चतुर्थ वेतन आयोग को निर्दिष्ट किया जाए। पूर्वोक्त संघ द्वारा फाइल की गई याचिका में, न्यायालय ने अन्तरिम अनुतोष के रूप में यथा प्रार्थित समानता का निदेश दिया और भारत संघ को समिति द्वारा सिफारिश किए गए अनुसार आवश्यक निर्देश करने का निदेश दिया। अन्तरिम अनुतोष से भी वित्तीय भार पड़ा। न्यायालय के निदेश को दृष्टिगत रखते हुए, उस पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकी कि निदेश को संविधान के अनुच्छेद 146(2) के परन्तुक में यथा उपबन्धित राष्ट्रपति का अनुमोदन प्राप्त नहीं था।[16]

4.10. पूर्वोक्त निर्णयों में प्रतिपादित सिद्धान्त को एक कदम आगे बढ़ाया जा सकता है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के निवासियों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों के निपटारे के लिये पर्याप्त संख्या में न्यायालय स्थापित करे। राज्य का यह मूल दायित्व है कि वह ऐसे न्यायालय सृजित करे जो राज्य की न्यायपालिक शक्ति का प्रयोग कर सकें। इस कर्तव्य का पालन करने की असफलता राज्य को अपने सांवैधानिक दायित्व का पालन करने के लिये परमादेश जारी किया जाना अनुज्ञात कर सकती है; ऐसा एक दायित्व पर्याप्त संख्या में न्यायालय स्थापित करना और उनके अधिकार में निधियां देना है ताकि वे स्वतन्त्र रूप से शीघ्र और प्रभावी ढंग से न्याय देने के अपने दायित्व को कार्यान्वित कर सकें। न्यायाधीशों के मामले में, न्यायपीठ का गठन करने वाले उच्चतम न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा व्यक्त किए गए मत से तर्क संगत रूप से यह परिणाम निकलता है। प्रत्येक उच्च न्यायालय के लिये आवश्यक स्थायी न्यायाधीशों की संख्या का समय-समय पर पुनर्विलोकन न करने में और उस सीमा तक नियुक्ति न करने में सरकार की ओर से की जाने वाली सतत उपेक्षा का विस्तृत विश्लेषण करने के पश्चात् उन्होंने यह निदेश दिया कि भारत संघ को, जिसका उत्तरदायित्व प्रत्येक उच्च न्यायालय में पर्याप्त संख्या में न्यायाधीशों को नियुक्त करना है, निदेश दिया जाए कि वह प्रत्येक उच्च न्यायालय में स्थायी न्यायाधीशों की संख्या का पुनर्विलोकन कर, कार्य भार के आधार पर उन स्थायी न्यायाधीशों की संख्या नियत करे जिनकी नियुक्ति की जानी चाहिए और रिक्तियों की पूर्ति स्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति करके करें। उपर्युक्त शब्दों में संघ सरकार को रिट जारी की जाए।[17]

4.11. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता भारत के संविधान की सर्वोपरि विशेषता है।[18] सांवैधानिक विधि के एक लेखक की राय है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हमारे संविधान का प्रमुख लक्षण है। भयरहित न्याय, जो केवल स्वतन्त्र न्यायपालिका से उत्पन्न हो सकता है, संविधान का प्रमुख सिद्धांत है और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हमारे संविधान के निर्माताओं की संघर्षरत आस्था है।[19] उसी विषय का प्रतिवर्तन करते हुए, यह विचार व्यक्त किया गया कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का पन्थ हमारा सांवैधानिक धर्म है और यदि कार्यपालिका इस बुनियादी सिद्धान्त का संकटापन्न करती है तो न्यायालय करो या मरो की स्थिति में आ जायेंगे।[20] इस स्वतन्त्रता को सहारा देने के लिये, अब यह आवश्यक है कि न्यायालयों को अपनी आवश्यकताओं को अवधारित करने की शक्ति दी जानी चाहिए, जिसमें पर्याप्त संख्या में न्यायालय स्थापित करने और पर्याप्त संख्या में न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की शक्ति आवश्यक रूप से सम्मिलित है। यदि निधियों की शक्ति कार्यपालिका के पास रहती है और यदि अतिरिक्त न्यायालय स्थापित करने के लिये वित्तीय विवशता को पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध न कराने के बहाने के रूप में प्रशंसाई ढंग से प्रदर्शित की जाती है, तो न्यायिक स्वतन्त्रता चिढ़ाने वाली भ्रमजाल[21] और अवास्तविकता का वचन बन कर रह जाती है। संविधान ने स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की है और यह नहीं हो सकता है कि जबकि उसने उसे प्रत्येक नागरिक के जीवन और सम्पत्ति पर शक्तियां प्रदत्त की हैं, वह उसे जनशक्ति और सामग्री सम्बन्धी अपनी स्वयं की आवश्यकता अवधारित करने की शक्ति से वंचित करेगी। न्यायपालिका का सतत दक्ष कार्यकरण संवैधानिक शक्ति के संतुलन के लिये एक अपरिहार्यता और अनिवार्यता है।[21]

4.12. वित्त के विधायी विनियोग और कार्यपालिक नियन्त्रण द्वारा, अपेक्षित अनुदानों और पुनर्विनियोजनों में कमी करके या उससे इंकार करके, न्यायालयों को नपुंसक और पंगु बनाने दिया जा सकता। न्यायालयों को कार्यपालिका के वित्तीय अंगूठे के अधीन रखना संविधान की भावना का प्रत्यक्ष उल्लंघन है। न्यायालयों से बहुधा उन व्यक्तियों के कार्यों पर निर्णय करने की अपेक्षा की जाती है जो लोक निधियों पर नियन्त्रण रखते हैं, और इसलिये उन्हें ऐसे मामलों में विवृत या प्रच्छन्न प्रतिशोध के भय के बिना स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए। यदि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाए रखना है तो उसके पास निधियों की शक्ति होनी चाहिए। न्यायालयों को पर्याप्त निधियां उपलब्ध कराने से इन्कार करने का अर्थ है उन्हें अपने सांवैधानिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने से रोकना और इसलिये यह न्यायपालिका के अनन्य क्षेत्र पर अतिक्रमण करना है।[22]

4.13. जबकि निस्संदेह रूप से, जैसा इसमें इसके पूर्व बताया गया है, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों में से कम से कम एक ने यह राय[24] व्यक्त की है कि परमादेश जारी किया जा सकता है यदि अतिरिक्त न्यायालय खोलने या स्थापित करने का प्रस्ताव बाह्य या असंगत आधारों पर नामंजूर या नकार

दिया जाता है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में यह अकल्पनीय है कि न्यायपालिका को प्रत्येक ऐसे समय पर जब स्थिति की मांग हो, इस विषय पर अपने स्वयं के समक्ष परमादेश की रिट की याचना करना चाहिए। इस विषय पर विचार विमर्श को समायोजन और समझौते की भावना से अनुप्राणित होना चाहिये। कोई व्यवहार्य हल ढूंढा जाना चाहिये ताकि न्यायालयों पर, उचित और अत्यावश्यक जरूरतों के होने पर भी, कार्यपालिका के कठोर और प्राय: प्रतिउत्पादी नियन्त्रण का प्रतिकार किया जा सके।

4.14. विधि आयोग इस सम्बन्ध में व्यावहारिक हल का सुझाव देना चाहेगा। विधि आयोग ने विभिन्न स्तरों पर न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति, भारतीय न्यायिक सेवा स्थापित करके न्यायपालिका की पुनर्संरचना करने,[26] न्यायिक अधिकारियों के प्रशिक्षण[27] आदि की समस्याओं पर विचार करने के लिए राष्ट्रीय न्यायिक सेवा आयोग स्थापित किए जाने [25] की पहले ही सिफारिश की है। इस निकाय को न्यायालयों की वित्तीय आवश्यकताओं और बजट का अवधारणा करने और उन्हें अन्तिम रूप देने का अतिरिक्त कार्य सौंपा जा सकता है। राष्ट्रीय न्यायिक सेवा आयोग स्वयं "वित्त परामर्शदात्री समिति" नामक एक नया निकाय स्थापित कर सकती है, जिसे न्यायपालिका के विभिन्न स्तरों की वित्तीय आवश्कताओं का निःतकालिक निर्धारण करना चाहिए और उसका वित्त मन्त्रालय से सम्पर्क होना चाहिये और साधारणत: उनकी सिफारिशों को मान लिया जाना चाहिए। समिति में निम्नलिखित सदस्य हो सकते हैं :—

(1) उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या उच्च न्यायालय के संबंध में उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति ;

(2) उच्च न्यायालय का प्रशासनिक न्यायाधीश ;

(3) न्यायालय के वित्त का प्रभारी प्रशासनिक अधिकारी ;

(4) न्यायपालिका के प्रभारी मन्त्रालय का सचिव ; और

(5) सचिव, वित्त मन्त्रालय, व्यय विभाग।

4.15. साधारणत:, बजट का प्रस्ताव, यथास्थिति, उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए। यदि बजट का अनुमोदन किया जाना हो तो वह इस समिति को निर्दिष्ट किया जाना चाहिये और उसे उसका अनुमोदन करना चाहिए। यह समिति न्यायलय के प्रतिनिधियों और कार्यपालिका शाखा के बीच अन्त:क्रिया और अन्त:पृष्ठीयता के लिए मिलन स्थल प्रदान कर सकती है और केवल मात्र चर्चा और संवाद के द्वारा सहमति पर पहुंचा जा सकता है।

4.16. एक बारगी न्यायालय प्रबन्धकों के रूप में प्रबन्ध विशेषज्ञों की नियुक्ति करके न्यायालय के प्रशासन का आधुनिकीकरण हो जाने पर, आधुनिक सुविधाओं से युक्त प्रशिक्षित न्यायालय-कर्मचारी-वृन्द की व्यवस्था हो जाने पर और वित्तीय परामर्शदात्री समिति की स्थापना द्वारा वित्त अवरोधक दूर हो जाने पर अनेक समस्याएं, जो कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच उत्तेजनाजनक सिद्ध हुई हैं सुबह की ओस के समान तिरोहित हो जाएंगी। एक बारगी उत्तेजकों के दूर हो जाने पर, न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच यह प्रतीयमान टकराव पूरी तरह समाप्त हो जाएगा और उसके परिणामस्वरूप न्यायालय का सुचारू कार्यकरण और मामलों का शीघ्र निपटारा सुनिश्चित हो सकेगा।

अध्याय 5

अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध करना

5.1. "न्याय प्रशासन" वंश के अधीन दो स्थूल प्रभाग या प्रजातियां हैं। सिविल न्यायदेने वाले न्यायालय एक स्थूल प्रभाग हैं और दूसरा दांडिक न्याय प्रणाली है। निसंदेह, कर विधियों, श्रम विधियों भू-विधियों और प्रशासनिक विधि के प्रशासन को इस प्रकार रूपांकित किया गया है कि मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि वे सिविल न्याय प्रणाली के भागरूप हैं। सिविल न्याय प्रणाली और दांडिक न्याय प्रणाली के बीच विभेदक लक्षण यह है कि सिविल न्याय प्रणाली व्यक्तियों के बीच के, व्यक्तियों और राज्य के बीच के और यहां तक कि राज्य और राज्य के बीच के विवादों के, जहां कि पक्षकार उसके प्रति किए गए अन्याय की शिकायत करता है और प्रतितोष की याचना करता है, निराकरण के लिये न्याय मंच उपलब्ध कराती है। दांडिक न्याय प्रशासन प्रणाली समाज के विनियामक साधन के स्वरूप की होती है, जिसके द्वारा राज्य समाज में अनुशासन प्रवर्तित करता है। अपराध के अन्वेषण और दण्ड के लिये अधिकरण की व्यवस्था करके राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह दांडिक न्याय प्रशासन के लिए न्यायाधीशों की स्थापना करे। विधि के शासन द्वारा शासित होने वाला समाज समाज के सुव्यवस्थित विकास के लिये विनियामक स्वरूप की असंख्य विधियों की परिकल्पना करता है। विधि के भंग, व्यतिक्रम या उल्लंघन को दण्डनीय बनाया जाता है। अपराधियों के विचारण के लिये जिन्हें, यदि वे दोषी पाए जाते हैं, दंडित किया जा सकता है, न्यायालय स्थापित करना राज्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है। राज्य को दांडिक न्याय प्रशासन के समस्त खर्चों का भुगतान करना चाहिए।

5.2. सिविल न्याय के मामले में, राज्य ऐसे न्यायाधिकरण की व्यवस्था करता है जहां अन्य नागरिकों या राज्य द्वारा अन्याय किए जाने से व्यथित नागरिक विनिर्दिष्ट पालन या प्रतिकर या नुकसानी के रूप में प्रतितोष की मांग कर सकते हैं। विवाद के पक्षकार मध्यस्थ नियुक्त करके और उसे मध्यस्थ को विवाद का निराकरण करने की शक्ति प्रदान करके और विनिश्चय को आबद्धकर बनाकर अपने स्वयं के अधिकरण का चुनाव कर सकते हैं। उन पक्षकारों को, जो अपने विवादों का निराकरण अपने स्वयं के अधिकरण द्वारा करा सकते हैं, न्यायालय में जाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु पक्षकार बहुधा इतने शिष्ट नहीं होते कि वे अपने स्वयं के अधिकरण के रूप में किसी मध्यस्थ की सेवा प्राप्त करें। अत:, राज्य न्यायालय की स्थापना करता है और उन्हें न्याय देने की शक्ति, जो राज्य को शक्ति है, प्रदान करता है। विवाद के पक्षकार ऐसे न्यायालयों की अधिकारिता का अवलंब ले सकते हैं। इस अर्थ में, न्यायालय सेवा प्रदान करता है। इस पहलू से विचार करके, न्यायालय फीस के उद्ग्रहण को "फी" की संज्ञा दी गई है, "कर" की नहीं। क्योंकि आदेश वाक्य यह है कि फीस प्रदान की गई सेवा के अनुरूप होनी चाहिये। अत:, उन व्यक्तियों को, जो न्यायाधिकरण की सेवाओं का लाभ उठाते हैं, प्राप्त की गई सेवाओं के लिये फीस का संदाय करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि पक्षकार अपने स्वयं के अधिकरण के रूप में मध्यस्थ के पास जाते हैं, तो उसमें यह विवक्षित है कि वे मध्यस्थ की सेवाओं के लिये संदाय करते हैं। राज्य द्वारा स्थापित किसी न्यायालय की अध्यक्षता करने वाला न्यायाधीश तथापि मध्यस्थ है और विवाद के न्यायनिर्णयन द्वारा सेवा प्रदान करता है। अत:, ऐसी सेवाओं की व्यवस्था करने के लिए राज्य को न्यायालय फीस वसूल करने के लिये समर्थ बनाया गया है। न्यायालय फीस की यही उत्पत्ति है।

5.3. अत:, न्यायालय फीस के उद्ग्रहण को जब प्रश्नगत किया जाता है तब यह बताया जाना चाहिये कि न्यायालय फीस के उद्ग्रहण का सरकार द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के साथ परस्पर सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में, न्यायालय के बारे में यह साबित किया जाना चाहिए कि वह प्रदान की गई सेवाओं के लिये तत्प्रतितत् है।[1] यह प्रश्न उच्चतम न्यायालय के समक्ष पुन: उपस्थित हुआ और संविधानपीठ ने यह विचार व्यक्त किया कि राज्य को मुकदमेबाजी पर कर लगाने और तद्द्वारा राजस्व में वृद्धि करने और लोगों से मार्ग-भवन या शिक्षा या अन्य लाभकारी योजनाओं के लिये, जो उसके पास हों, संदाय कराने की शक्ति नहीं है।[2] इस प्रकार यह अविवादास्पद रूप से स्थापित हो चुका है कि जहां तक सिविल न्याय

का सम्बन्ध है, राज्य सेवा प्रदान करता है और इस प्रकार प्रदान की गई सेवाओं के लिये फीस वसूल करता है और प्रदान की गई सेवाओं की लागत और वसूल की गई फीस के बीच तत्प्रतितत् होना चाहिये। कुछ सीमा तक, इस मत का अनुसरण नहीं किया गया जब, पूर्ववर्ती विनिश्चयों का पुनर्विलोकन करते हुए, उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कर और फीस के बीच कोई प्रजातीय अन्तर नहीं है, यद्यपि मोटे तौर पर कर करदाताओं को कोई विशेष फायदों का वचन दिए बिना, सामान्य भार का अनिवार्य आहरण है जबकि फीस प्रदान की गई सेवाओं, दिए गए फायदे या प्रदत्त किए गए विशेषाधिकार के लिये संदाय है। कर और फीस के बीच विवक्षता विभेद का प्रमाण चिह्न नहीं है। संगृहीत किया गया धन पृथक निधि में जमा नहीं होता वरन् संचित निधि में जाता है। यह बात भी उद्ग्रहण को कर नहीं बनाती। यद्यपि फीस का सम्बन्ध प्रदान की गई सेवाओं से या प्रदत्त किए गए फायदों से होना चाहिये, तथापि ऐसे सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं है, मात्र कारणात्मक सम्बन्ध पर्याप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त, न तो फीस के भार और न ही प्रदान की गई सेवाओं का समान होना आवश्यक है। यह कि फीस का संदाय करने वाले के सिवाए, अन्य लोगों को भी फायदा मिलता है, इससे भी फीस का स्वरूप प्रभावित नहीं होता। वास्तव में फीस देने वालों को होने वाला विशेष फायदा या लाभ लोकहित में, विनियमन के प्रमुख हेतुक की तुलना में गौण है। न ही न्यायालय को लागत लेखापाल की भूमिका ग्रहण करनी चाहिये। प्रदान की गई सेवाओं की लागत का, संगृहीत की गई फीस की तुलना में इस दृष्टि से सावधानीपूर्वक मूल्यांकन करना कि दोनों में सन्तुलन स्थापित हो सके, न तो आवश्यक है और न ही समीचीन। जो आवश्यक है, वह है पारस्परिक सम्बन्ध। यथार्थ में तत्प्रतितत् फीस का एक मात्र सही अभिसूचक नहीं है और न ही कर में उसका अभाव है।[3]

5.4. यद्यपि फीस और कर के बीच सीमांकन रेखा धूमिल होती जा रही है और निकट भविष्य में उसका अदृश्य हो जाना सम्भाव्य है, फीस और कर के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि राज्य द्वारा न्यायालय फीस का उद्ग्रहण उसके द्वारा स्थापित न्यायालयों द्वारा उन पक्षकारों को प्रदान की गई सेवाओं के लिये किया जाता है जिन्हें विवादों के निराकरण के लिये ऐसे न्यायाधिकरण की तलाश रहती है जिनके विनिश्चय आबद्धकर स्वरूप के और निष्पादन द्वारा प्रवर्तनीय होते हैं।

5.5. इस सम्बन्ध में वाद-विवाद चल रहा था कि क्या भारत के समान देश में, न्यायालय फीस के उद्ग्रहण से न्याय तक पहुंचने में बाधा उत्पन्न होती है। सन् 1982 में राज्यों और संघ राज्यों के विधि मंत्रियों के सम्मिलन ने न्यायालय फीस के युक्तियुक्तकरण के सम्बन्ध में एक समिति स्थापित की। यह उपक्रम, न्यायालय फीस की समाप्ति के लिय विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मन्त्रालय से सम्बद्ध संसद् सदस्यों की परामर्शदात्री समिति की सिफारिश के अनुसरण में किया गया था। यह राय व्यक्त की गई कि सम्मिलन में आम सहमति यह थी कि यद्यपि अभिष्ट उद्देश्य, अर्थात् न्यायालय फीस की समाप्ति सिद्धान्ततया सराहनीय है, तथापि वित्तीय विवशताओं को ध्यान में रखते हुए, दृष्टिकोण न्यायालय फीस का युक्तियुक्तकरण करना होना चाहिये, उसकी समाप्ति नहीं। दो बिन्दुओं पर सहमति हुई :—

(1) उन व्यक्तियों की, जो वास्तव में जरूरतमन्द हैं, सहायता की जानी चाहिये और उन्हें न्यायालय फीस के संदाय से छूट दी जानी चाहिए, और

(2) विशिष्ट प्रकार के मामलों की पहचान की जानी चाहिए, जिनके लिये कोई न्यायालय फीस नहीं होनी चाहिये या नाम मात्र की फीस होनी चाहिये।

5.6. इसी पृष्ठभूमि में विधि आयोग को, इस रिपोर्ट में विस्तृत सिफारिशें करते समय (जिन्हें न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन से सम्बन्धित रिपोर्ट[4] के साथ पढ़ा जाना चाहिय) न्याय प्रशासन पर अधिक परिव्यय के लिए उपलब्ध संसाधन उपदर्शित करने होंगे।

5.7. असंगति के भय के बिना, प्रारम्भ में ही यह बता दिया जाना चाहिये कि किसी विकासशील देश में लिखित संविधान के अधीन कार्य करने वाले और विधि के शासन पर आधारित सांवैधानिक लोकतन्त्र में न्याय प्रशासन सामाजिक दृष्टि से सर्वोपरि है और किन्हीं ऐसे संसाधनों को विचार में लाए बिना, जो स्वयं सेवा द्वारा उत्पन्न किए जा सकते हों, उसकी व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिये। तथापि, भारत के समान देश में, जो अत्यधिक गरीबी से ग्रस्त है, जहां यदि न्याय प्रशासन के लिए अधिक परिव्यय की

सिफारिश की जाती है और जिसे राष्ट्रीय प्राथमिकताओं में उच्च स्थान प्राप्त नहीं हो सकता, वहां प्राथमिकता के आधार पर संसाधनों का आबंटन स्वयं अतिरिक्त संसाधनों को अनिवार्य बना देता है। तदनुसार, यद्यपि न्याय प्रशासन एक सेवा है, जिसे राज्य अपने नागरिकों को प्रदान करने के लिए आबद्ध है और यह कि न्यायालय फीस को पसन्द नहीं किया जाता, इस स्पष्ट स्थिति को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि हमारा देश निर्धन विकासशील देश है, जिसके संसाधन स्वल्प हैं और संसाधनों के समान वितरण को कुछ प्राथमिकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। यह अभिकथित करना कि राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अन्य प्रतिस्पर्धी दावों की कीमत पर भी न्याय प्रशासन के लिय संसाधन उपलब्ध कराए, क्योंकि हम न्याय को अत्यधिक महत्व देते हैं और वह विकास का आवश्यक अंग है, यद्यपि स्तुत्य और अनुसरण किया जाने वाला आदर्श हो सकता है किन्तु जब धरातल पर आकर देखा जाता है तो वह मात्र अलंकृत वक्तृता ही सिद्ध होता है, क्योंकि पर्याप्त राशियों का अभाव है और राज्य, यदि इच्छुक भी हो, दक्ष और द्रुत न्याय प्रशासन के लिये आवश्यक समस्त निधियां उपलब्ध नहीं करा सकता। अतः, इस रिपोर्ट में प्रणाली के भीतर ही अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध करने का प्रयास किया गया है। यह करने के लिए चार उपाय करने होंगे :—

(क) वर्तमान संसाधन स्थिति का पुनर्विलोकन और यह कि क्या उपलब्ध किया जा सकने वाला कोई आवश्यक साधन छूट गया है;

(ख) इस बारे में नीति विषय निर्णय कि क्या प्रणाली के सभी उपयोगकर्ताओं को समान दर से प्रभारित किया जाए ;

(ग) क्या कोई प्रणाली का अनुचित लाभ उठा रहा है और अधिक संदाय करने की स्थिति में में होते हुए भी कोई अभिदाय नहीं कर रहा है ; और

(घ) कोई अन्य संसाधन ।

5.8. सभी चार उपायों के सम्बन्ध में विस्तृत जांच करने के पूर्व, यह आवश्यक है कि विश्वासोत्पादक रूप से यह बताना आवश्यक है कि राज्य न्याय प्रशासन पर लगभग नहीं के बराबर खर्च करता है।

5.9. उन क्षेत्रों को उपदर्शित करने का उत्तरदायित्व लेने के पूर्व जहां सेवा, अर्थात् न्याय प्रशासन के भीतर ही अतिरिक्त संसाधन पैदा किए जा सकते हैं, यह बताना आवश्यक है कि वर्तमान में राज्य न्याय प्रशासन पर मूल्यवान रूप से बहुत कम, या यदि कहा जाए तो वास्तव में कुछ भी खर्च नहीं करता जबकि बहुधा बढ़ा चढ़ाकर यह दावा किया जाता है कि न्याय प्रशासन सफेद हाथी बन गया है और यह कि उसके द्वारा दी जाने वाली सेवाओ के बदले, सेवा को बनाए रखने की लागत बहुत अधिक है और लागत-लाभ का अनुपात विपरीत दिशा में गतिशील है, इस कथन से अधिक भ्रामक कुछ भी नहीं है और यहां वर्णित जानकारी से यह स्पष्ट हो जाएगा। न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन से संबंधित रिपोर्ट में[5] न्यायाधीश; जनसंख्या के उर्ध्वगामी पुनरीक्षण की सिफारिश करते समय, विधि आयोग ने विधि और न्याय मंत्रालय द्वारा न्यायालय फीस, युक्तियुक्तकरण और संबंध के प्रश्न पर एकत्रित जानकारी[6] का उपयोग किया। वह विवरण यहां वर्ष 1981-82 के लिए न्यायपालिका पर व्यय का राज्य कर प्राप्तियों के योग के साथ प्रतिशतवार पारस्परिक संबंध दर्शित करने की दृष्टि से उदधृत किया जा रहा है। मणीपुर और त्रिपुरा को छोड़कर, अधिकांश राज्य 0.15 प्रतिशत ए० पी० से 3.53 प्रतिशत एच० पी० के बीच खर्च करते हैं और शेष राज्य 1 प्रतिशत से 2.25 प्रतिशत के बीच खर्च करते हैं। इससे प्रत्यापक रूप से दर्शित होगा कि न्याय प्रशासन को उसके रखरखाव के लिए और विकास के लिए नगण्य राशियां प्राप्त हुई हैं।[7] इस रिपोर्ट में चूंकि विधि आयोग न्यायपालिका के प्रस्तावित प्रसार पर होने वाले व्यय के संबंध में विनिर्दिष्ट जांच करने से संबंधित है, यह बताया जा सकता है कि योजना द्वारा प्रदान की गई जानकारी पर विचार करने पर, अधिकांशत : वही स्थिति दर्शित होती है।[8] अधिक संक्षिप्त और सही होने के प्रयास में, विधि आयोग ने स्वयं भी जांच की और राज्यों से सीधे जानकारी प्राप्त की। जो भी जानकारी उपलब्ध कराई गई है, उसे उपाबंध 5(3) में तालिकांकित किया गया है और कोई भी यह विश्वासपूर्वक कह सकता है कि स्थिति में कोई भी सुधार नहीं हुआ है। अतः, जो दृश्य उपस्थित होता है, वह यह है कि मणीपुर और त्रिपुरा के समान छोटे राज्य बड़े राज्यों, विशेषतः महाराष्ट्र जैसे राज्य की तुलना में, जहां प्राप्तियां बहुत अधिक हैं, और व्यय सीमान्ततः निम्नतम, बहुत अधिक खर्च करते हैं। कोई भी यह विश्वासपूर्वक कह सकता है कि न्यायपालिका को राज्य की ओर से कृपण व्यवहार मिला है। यह स्मरण

किया जाना चाहिए कि प्रथम विधि आयोग का निष्कर्ष यह था कि शीर्ष "न्यायालय फीस" के अधीन प्राप्ति सिविल और दांडिक न्याय प्रशासन के लिए आवश्यक लागत से बहुत अधिक थी। निष्कर्ष यह था कि अतिशेष राज्य के सामान्य राजस्व में जमा कर दिया।[9] विधि आयोग द्वारा संगृहीत जानकारी के विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि न्याय प्रशासन से होने वाली प्राप्ति से, जो न्यायालय फीस और जुर्माने से निर्मित होती है, न्यायालय के व्ययों की मात्र आंशिक पूर्ति होती है। न्यायालयों की प्राप्तियों से होने वाली व्ययों की पूर्ति की प्रतिशतता में उत्तरोत्तर कमी हुई है। उदाहरण की तौर पर, बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए आंकड़ों से प्रकट होता है कि वर्ष 1978 में, न्यायालय की प्राप्तियों से लगभग 94 प्रतिशत व्यय की पूर्ति हुई, किन्तु वर्ष 1984 में केवल लगभग 48 प्रतिशत व्यय की ही पूर्ति हो सकी। इसी प्रकार, आन्ध्र प्रदेश में बीच वर्ष 1986-87 में प्राप्तियों से व्यय के लगभग 78 प्रतिशत की पूर्ति हुई, किन्तु वर्ष 1986-87 में उनसे व्यय के केवल 54 प्रतिशत की पूर्ति हुई पंजाब में यह आंकड़ा 35 प्रतिशत से नीचे आकर 20 प्रतिशत हो गया है।[10] क्रमिक गिरावट की इस दर से, यह आशिका होती है कि वर्षों के पश्चात, स्थिति सारतः इतनी बदल जाएगी कि न्यायालय फीस से, जैसा कि उसका वर्तमान स्वरूप है, और जिसके साथ दी गई छूटें संयुक्त होगी, व्यय के एक बहुत थोड़े से प्रतिशत की पूर्ति होगी।

5.10. विधि आयोग की 14 वीं रिपोर्ट के बाद से और उसके पश्चातवर्ती अनेक वर्षों तक सामान्यतः यह विश्वास किया जाता था कि न्यायालय फीस और जुर्माने न्याय प्रशासन की लागत की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त हैं। स्थिति को और स्पष्ट करने के लिए, विधि आयोग ने योजना आयोग से वही जानकारी प्रदान करने का अनुरोध किया जिसके लिये वह सहर्ष तैयार हो गया। तथापि, उससे विधि आयोग का कार्य और भी दुष्कर हो गया, क्योंकि कुछ राज्यों द्वारा दी गई जानकारी और योजना आयोग द्वारा प्रदान की गई जानकारी में बहुत अन्तर था। योजना आयोग द्वारा दिए गए आंकड़ों में उन व्ययों का, जो न्यायालयों को आय में से किए जाते हैं, प्रतिशत बहुत अधिक बताया गया। इसका स्पष्टीकरण इस तथ्य में निहित है कि शायद राज्य अधिक निधियां प्राप्त करने हेतु योजना आयोग के लिए निम्न आंकड़े तैयार करते हैं। जो भी हो, राज्यों और योजना आयोग द्वारा भेजी गई जानकारी से विधि आयोग किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर नहीं पहुंचने की स्थिति में नहीं है। यह प्रयोजन जिसके लिए यह जानकारी राज्यों द्वारा दी गई है, यद्यपि योजना आयोग ने अपने अभिलेखों से पूरी जानकारी दी है, तथापि जानकारी के दोनों स्रोतों से एक निष्कर्ष अपरिहार्य है, वह यह है कि न्याय प्रशासन के व्ययों की पूर्ति न्याय प्रशासन से उत्पन्न होने वाली आय से नहीं हो सकती, जो साधारणतः न्यायालय फीस और जुर्माने से निर्मित होती है।

5.11. विधि आयोग को यह जानकारी पाकर बहुत आश्चर्य हुआ कि न्याय प्रशासन द्वारा उत्पन्न निधियां उसके व्ययों की पूर्ति करने के लिए तब भी पर्याप्त नहीं है जबकि संस्थित किए जाने वाले मामलों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। परिणामतः न्यायालयों को प्राप्तियों में वृद्धि हुई होगी, किन्तु फिर भी वे न्यायालय के बढ़ते हुए व्ययों के समनुरूप नहीं रही हैं।

5.12. इस स्थिति के अनेक कारण हो सकते हैं। एक कारण यह हो सकता है कि जीवन सूचकांक व्यय के अनुसार न्यायालय फीस में आनुपातिक वृद्धि नहीं हुई है जबकि प्रशासनिक व्ययों में, जिनके अन्तर्गत, न्यायाधीशों और कर्मचारीवृन्द के वेतनों, महंगाई भत्ते तथा अतिरिक्त न्यायालयों पर हुई वृद्धि को सम्मिलित करते हुए, अन्य अनुषंगिक व्यय भी हैं, कई गुना वृद्धि हुई है। आय पक्ष का जहां तक संबंध है, जुर्माने का संदाय करने में अनिच्छा प्रदर्शित की जाती है और ऐसे मामलों की संख्या बहुत बढ़ रही है जिनमें न्यायालय फीस से छूट दे दी जाती है। इसके अतिरिक्त, शीर्ष "रिट पिटीशन" के अधीन न्यायिक कार्य में वृद्धि हुई है, जिसमें न्यायालय फीस अपरिवर्तित बनी हुई है। नियमित अन्तरालों पर बढ़ते हुए सूचकांक और न्यायाधीशों तथा कर्मचारीवृन्द के वेतनों के रूप में वृद्धि होने से, इन दो ज्ञात स्रोतों से होने वाली आय में कमी होती जा रही है। कुछ वर्ष पूर्व, भारत सरकार के विधि और न्याय मंत्री ने यह विचार व्यक्त किया था कि न्यायालय फीस पूरी तरह समाप्त कर दी जानी चाहिए किन्तु "न्यायालय फीस" राज्य सूची में है और राज्य इससे सहमत नहीं हुए। यदि न्यायालय फीस पूरी तरह समाप्त कर दी जाती है तो आय और सेवा पर होने वाले व्यय के बीच अन्तर और भी बढ़ जाएगा।[12]

5.13. इसके विपरित, शीर्ष "जुर्माने" के अधीन प्राप्ति की अपनी अलग कहानी है। दंड के आधुनिक सिद्धान्त, जो बहुधा अभियुक्त की आयु, परिपक्वता और अभियुक्त के मामले के अन्य पहलुओं पर निर्भर करता है, उसे परिवीक्षा का लाभ दे दिया जाता है जिससे वह जुर्माने देने की बाध्यता से मुक्त हो जाता है।

यह एक कारण है जिससे शीर्ष "जुर्माने" के अधीन आय में कमी होती जा रही है। इसके अतिरिक्त प्रमुख दंड विधान 1860 के युग की भारतीय दण्ड संहिता है। 1860 और 1988 में यदि रुपये के मूल्य की तुलना की जाए तो नतीजा झकोर देने वाला हो सकता है। फिर भी दंड संहिता में विहित जुर्माने, जो 125 वर्ष पुराने हैं, यथावत बने हुए हैं। सुझाव यह नहीं है कि जुर्माने न्यायालयों की स्थापना के व्यय को ध्यान में रखते हुए उद्गृहीत किए जाने चाहिए। जुर्माना एक प्रकार का दण्ड है और उसे अपराध की गंभीरता के अनुरूप होना चाहिए। इतना सब कहने के पश्चात, आज 100 रुपये या 500 रुपये या 1,000 रुपये के जुर्माने का कोई महत्व नहीं है। यदि जुर्माने का अधिरोपण अब भी उन स्थिर दरों पर, जो अब नाममात्र की रकम के बराबर रह गई है, किया जाता है तो उसका दंडात्मक प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। अतः, उसका यथार्थतमक पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए और अधिरोपण किए जाने वाले जुर्माने में इन अनेक वर्षों में रुपये के मूल्य में हुई कमी के सापेक्ष में वृद्धि की जानी चाहिए। एक बार यह कर लिया जाने पर, मुद्रास्फिती के प्रभाव को समाप्त करने के लिए नियतकालिक पुनरीक्षण किया जाना चाहिए। कुछ अपवादों को छोड़कर, न्यायालय फीस के बारे में भी यही किया जाना चाहिए।

5.14. जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, रिट पिटीशन के लिए न्यायालय फीस बहुत कम है। और मुकदमों की संख्या इस शीर्ष के अधीन सबसे अधिक बढ़ी है। प्राप्तियां न्यायालय के व्ययों के अनुरूप न होने के अतिरिक्त कारणों में एक कारण यह भी है।[11]

5.15. भारत के उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय रिट अधिकारिता प्रदान करते समय, प्रत्याशा यह थी कि इन न्यायालयों द्वारा विवादों का निराकरण शीघ्रता से किया जाएगा। तथापि, रिटों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसके परिणामस्वरूप उच्च न्यायालय की अन्य अधिकारिताओं के अधीन आने वाले मामलों, जैसे द्वितीय अपील, प्रथम अपील, पुनरीक्षण दांडिक पुनरीक्षण, दांडिक अपील और मूल अधिकारिता के मामले को पीछे ढकेल दिया जाता है और उन्हें नम्बर पर आने के लिए कतार में एक लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी होती है। रिट अधिकारिता का उपयोग अधिकांशतः करदाताओं, धनाढ्य व्यापारियों, उद्योगपतियों, जमींदारों और राजाओं, संक्षेप में समाज के समृद्ध वर्ग के व्यक्तियों, द्वारा किया जाता है। और वे इस अधिकारिता का लाभ नाममात्र को या व्यावहारिक रूप से कोई न्यायालय फीस का संदाय किए बिना उठाते हैं और वे न्यायालय का सम्पूर्ण समय ले लेते है और निर्धनों - कृषि श्रमिकों, औद्योगिक कर्मकारों, नगरीय सम्पत्ति के अभिधारियों, भरणपोषण के याचकों और अन्य की व्यथाओं के प्रतिशोध के लिए कोई समय नहीं छोड़ते।

5.16. क्या न्यायालय की सेवाओं का लाभ उठाने के लिए कक्षीकारों को एक ही वर्ग में मानना उचित है? कर के उद्ग्रहण की शिकायत करने वाले करदाता को नाममात्र की न्यायालय फीस देकर न्यायालय की अधिकारिता का अवलंब लेने के लिए क्यों समर्थ होना चाहिए? किसी समृद्ध उद्योगपति को अपने अनुमित अन्याय के प्रतितोष के लिए न्यायालय की सेवाओं के लिए पर्याप्त संदाय किए बिना, न्यायालय के समय का उपयोग क्यों करना चाहिए? किसी समृद्ध उद्योगपति और किसी औद्योगिक कर्मकार को किसी अभिधारी और मकान मालिक को, किसी जमींदार और उसके कृषक को, किसी महाराजा और उसकी प्रजा को, किसी धनाढ्य व्यापारी और उसके उत्पादों के उपयोगकर्ता को न्यायालयों की सेवाओं का लाभ उठाने के मामले में एक समान क्यों समझा जाना चाहिए। वे अपने आप में कोई वर्ग नहीं है। वे मुकदमेबाज हो सकते हैं। किन्तु मुकदमेबाजों के बीच वे समृद्ध हैं और यदि वे न्यायालय की सेवा का लाभ उठाना चाहते हैं तो उन्हें सम्पूर्ण सेवा के लिए संदाय करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। एक प्रश्न जो पूर्णतः स्पष्ट है, वह यह है कि क्या न्यायालय की सेवा (जिससे अभिप्राय सिविल न्याय प्रणाली से है) प्रत्येक को एक ही दर से उपलब्ध कराई जानी चाहिए चाहे मामले की प्रकृति और न्यायालय द्वारा लगाया गया समय कुछ भी हो।

5.17. एस्कार्ट के मामले में,[13] न्यायाधीश चिनप्पा रेड्डी ने इस बात की निन्दा की कि न्यायालय में सामूहिक लड़ाईयां लड़ी जाती हैं। उन्होंने कहा :—

> "Problems of high finance and broad fiscal policy which truly are not and cannot be the province of the court for the very simple reason that we lack the necessary expertise and, which, in any case, are one of our business are sought to be transformed into questions involving broad legal principles in order to make them the concern of the court. Similarly what may be called the 'political' processes of 'corporate democracy' are sought to be subjected to investigation

by us by invoking the principle of the rule of law, with emphasis on the rule against arbitrary state action. An expose of the facts of the present case will reveal how much legal ingenuity may achieve by way of persuading courts, ingenuously, to treat the variegated problems of the world of finance, as litigable public right questions. Courts of Justice are well-tuned to distress signals against arbitrary action. So corporate giants do not hesitate to rush to us with cries for justice. The Court room becomes their battle ground and corporate battles are fought under the attractive banners of justice, fair play and the public interest. We do not deny the right of corporate giants to seek our aid as well as any Lilliputian farm labourer or payment dweller though we certainly would prefer to devote more or our time and attention to the latter. We recognise that out of the dust of the battles of giants occasionally emerge some new principles, worth the while. That is how the law has been progressing until recently. But not so now. Public interest litigation and public assisted litigation are today taking over many unexplored fields and the dumb are finding their voice."[16]

वे यह सम्प्रेक्षण करने के लिए विवश थे कि ऐसे मामले छोटे लोगों के अधिक मूल्यवान मामलों को अवरुद्ध करते हैं जो एक लम्बे समय से कतार में रह कर प्रतीक्षा कर रहे हैं और परिणामतः कतार लम्बी हो गई है।

5.18. इस मामले में, उच्चतम न्यायालय में मौखिक तर्क 28 कार्य दिवसों तक 5 न्यायाधीशों की खण्डपीठ द्वारा सुने गए।[17] वस्तुतः इसका निहितार्थ यह है कि इस मामले ने न्यायालय का 2 मास से अधिक का कार्य समय लिया जो अपने आप में बहुत कम है क्योंकि उच्चतम न्यायाधीश सप्ताह में 5 दिन, वर्ष में केवल 182 दिन कार्य करते है। साधारणतः अंतिम सुनवाई के लिए केवल 3 दिन उपलब्ध रहते हैं, क्योंकि शेष दिन एडमीशन और अन्य विविध मामलों के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। अंतिम सुनवाई के लिए उपलब्ध समय को दृष्टिगत रखते हुए, 5 न्यायाधीशों ने इस मामले की 2 मास से अधिक समय तक सुनवाई की, जिसके अन्त में न्यायालय ने भारत संघ, भारतीय रिजर्व बैंक और भारतीय जीवन बीमा निगम को खर्चा दिलवाया और, पुराने नियम से हटकर, उस कंपनी को नहीं जिसके नाम से मुकदमा लाया गया था वरन कंपनी के भारसाधक व्यक्तियों को खर्चों के भाग का संदाय करने के लिए दायी बनाया गया। तदनुसार, न्यायालय ने निम्नानुसार निदेश दिया :—

"प्रत्येक मामले में आरोपित खर्चों का 3/5वां भाग हरप्रसाद नन्दा, 1/5वां भाग स्वराज पाल और 1/5वां भाग पंजाब नेशनल बैंक द्वारा संदेय होगा।"[18]

उनके लिए यह बिल्कुल साधारण बात थी, क्योंकि स्वराज पाल लगभग 6 करोड़ रुपये के विनिधान को बचाने के लिए संघर्ष कर रहा था और नन्दा कंपनी का नियंत्रण बनाए रखने की कोशिश कर रहा था और उन दोनों ने न्यायालय का असम्यक् रूप से लम्बे समय तक उपयोग किया। अतः, यह समय है जब यह महसूस किया जाना चाहिए कि न्यायोचितता की यह मांग है कि उन व्यक्तियों को, जो न्यायालय का उपयोग अपने अनुमित अधिकारों की, जिनका संबंध केवल उन दोनों से ही होता है, समाज से नहीं रक्षा करने के लिए न्यायालय का उपयोग करते हैं, न्यायालय को सम्पूर्ण सेवाओं के लिए पूरा भुगतान करना चाहिए। वे अपने अनुमित मूल अधिकारी की रक्षा के नाम पर नाममात्र को न्यायालय फीस देकर न्यायालय का उपयोग नहीं कर सकते। और यही वे लोग हैं जो न्यायालय का अधिकतम उपयोग करते हैं। इस बात को उदाहरण सहित समझने के लिए, भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा उन मामलों को, जो इसके पूर्व निर्दिष्ट किए गए हैं, सुनवाई में लगाई गई समयावधि पर दृष्टि पात किया जा सकता है।[19] बैंक राष्ट्रीयकरण के मामले की सुनवाई 37 दिन, अर्थात् तीन मास तक 11 न्यायाधीशों को खण्डपीठ के समक्ष की गई, जो उस समय लगभग सम्पूर्ण न्यायालय था क्योंकि मुख्य न्यायमूर्ति को सम्मिलित करते हुए, न्यायाधीशों की स्वीकृत संख्या 12 थी। मूल अधिकारों (केसवानन्द भारती) के मामले की सुनवाई 68 कार्य दिनों, अर्थात् लगभग आधे वर्ष या उच्च न्यायालय के एक कार्यकाल तक 13 न्यायाधीशों को खण्डपीठ द्वारा की गई। राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम को दी गई चुनौती को अन्तर्वलित करने वाला यह मामला 5 न्यायाधीशों की खण्डपीठ द्वारा 9 दिसम्बर, 1980 से 30 अप्रैल, 1981 तक सुना गया। और न्यायाधीशों (एस० पी० गुप्ता) के मामले को सुनवाई 7 न्यायाधीशों को खण्डपीठ द्वारा 4 अगस्त, 1981 से 16 नवम्बर, 1981 तक की गई। न्यायालय के पास सीमित कार्य दिवस होने से यह बहुत स्पष्ट है कि न्यायालय के सीमित समय का एक बहुत बड़ा भाग उन मामलों द्वारा ले लिया गया जो इसमें वर्णित हैं और

उन पक्षकारों के मध्य जो प्रमुख व्यक्ति थे। और न्यायालय के उपयोग के माध्यम से वे किन दावों की रक्षा करने की कोशिश कर रहे थे ? समृद्ध बैंक, जमींदार, महाधिपति और महाराजा, सभी ने भारत के सामान्य जन के हित पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए, न्यायालय का उपयोग यथापूर्व स्थिति को बनाए रखने और अपनी प्राइवेट संपत्ति के संरक्षण के लिए किया। यह वही संदर्भ है जिसमें भारतीय न्यायालय के दृश्य के एक अनुभूतिक्षम दृष्टा ने यह संप्रेक्षण किया है कि "समृद्ध व्यक्ति न्यायालयीन कार्यवाहियों में अधिक कामयाब होते हैं।[20] और इस सारी मुकदमेंबाजी में, शिकायत संपत्ति के अनुमित मूल अधिकारी को उल्लंघन के संबंध में थी, जिसके लिए नाममात्र को न्यायालय फीस देकर रिट पिटीशन फाइल की गई थी। मूल अधिकारों के उल्लंघन की शिकायत करने वाले आर्थिक दृष्टि से दलित वर्ग के पक्षकार को न्यायालय सेवा के उपयोग और न्यायालय की सेवाओं के संदाय के विषय में उन व्यक्तियों के समकक्ष रखना सत्य का उपहास है जो कर की त्रुटिपूर्ण मांग की शिकायत करते हैं, जो प्रतिकार के बिना संपत्ति से वंचित कर दिए जाने की शिकायत करते हैं, और जो विशेषाधिकारों और रियायतों से वंचित कर दिए जाने की शिकायत करते हैं। वे अपने आप में एक वर्ग नहीं हैं। उन्हें एक साथ समूहीकृत करना असमानों को समानता के आधार पर लाना है जो वर्गीकरण के सिद्धान्त का उल्लंघन है। न्यायालय की सेवाओं के लिए संदाय के विषय में उन्हें, जो देने के लिए समर्थ है और समृद्धिशाली हैं और जो किसी मूल अधिकार के अनुमित उल्लंघन की शिकायत करते हैं और व्यथा के प्रतितोष की मांग करते हैं, सम्पूर्ण न्यायालयीन सेवाओं के लिए संदाय करना चाहिए। सम्पूर्ण न्यायालय से यह अभिप्रेत है कि न केवल वे व्यय जो राज्य न्यायाधीश पर प्रतिदिन उपगत करती है वरन वे व्यय भी जो न्यायालय की स्थापना पर होते हैं, जिनके अन्तर्गत आवश्यक रूप से भवन का अवक्षयण और ऐसे ही अन्य अन्तर्निवेश भी है। प्रत्येक न्यायालय में यह हिसाब लगाना आसान होगा कि राज्य एक न्यायाधीश पर न्यायालय में उसके एक पूरे दिन के कार्यकरण पर कितना व्यय करती है जिसमें उसका वेतन, परिलब्धियां, न्यायालय की स्थापना के खर्चे, न्यायालय का फर्नीचर, न्यायालय कर्मचारिवृन्द पर व्यय और वे सभी छोटी मदें जिन पर राज्य की उस न्यायालय के संधारण के लिए खर्च करना पड़ता है, भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। उद्गृहीत की जानी वाली फीस, न्यायाधीशों की संख्या मामले की सुनवाई में लगाए गए श्रम दिनों की संख्या* निर्धनों को, जिनकी न्यायालय तक पहुंच न्यायालय फीस के संदाय के दायित्व के बिना होना चाहिए, पूरा अनुतोष देने के लिए 10 प्रतिशत अधिभार का गुणक होना चाहिए। इससे उतनी सीमा तक साधन उत्पन्न हो सकेंगे जहां तक न्यायालय फीस की संकल्पना न्याय संगत सिद्ध हो सकेगी, क्योंकि न्यायालय फीस प्रदान की गई सेवा के अनुरूप होनी चाहिए। इस प्रकार तत्प्रतितता का सिद्धान्त, जिसे फीस को प्रणोदित करना चाहिए, पूरी तरह उचित और न्याय संगत सिद्ध हो सकेगा।

5.19. एक पूर्व के अवसर पर, इस संदर्भ में अभिव्यक्त राय का स्मरण करना उचित होगा। विधि आयोग ने आधारिक स्तर पर न्यायालयों को पुर्नसंरचना किए जाने की सिफारिश की है। न्यायालय को ग्राम न्यायालय के साथ से सहचारी प्रतिमान होना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले अधिकांश विवाद उसकी अधिकारिता के अन्तर्गत आएंगे। ऐसे न्यायालयों के समक्ष आने वाले याचिकाओं पर पर्याप्त फीस के प्रश्न ने विधि आयोग का ध्यान आकृष्ट किया है। नियमित और एलोट सेक्टर के लिए, जो अविवाद्य विषयों पर न्यायालय का बहुत अधिक समय ले लेते हैं, न्यायालय फीस की उच्च दर की सिफारिश करते हुए आयोग ने यह महसूस किया कि ग्राम न्यायालय के समक्ष की कार्यवाहियों के संबंध में कोई न्यायालय फीस उद्गृहीत नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि न्यायालयीन सेवा ग्रामीण निर्धनों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी[21] इस निष्कर्ष पर पहुंचने में, आयोग ने निम्नानुसार विचार व्यक्त किए हैं :—

"वास्तव में, एलोट और कार्पोरेट सेक्टर पर, जो न्यायालयों का उपयोग उन विवाद विषयों के लिए, जो वास्तविक नहीं हैं, नकली मुकदमेंबाजी के लिए करते है, भारी न्यायालय फीस उद्गृहीत की जानी चाहिए और उसे इतना अधिक होना चाहिए कि उन्हें न्यायालय की स्थापना के खर्च का संदाय करना पड़े इस सुझाव में नया या चौंकाने वाला कुछ भी नहीं है। केलीफोर्निया (यू०एस०ए०) में इस संबंध में शुरुआत की जा चुकी है।" [22]

5.20. उच्च न्यायपालिका का भी अधिकाधिक उपयोग अन्तरिम अनुतोष के रूप में सरकार के विरुद्ध किया जा रहा है। मुकदमेबाजी केवल अन्तरिम अनुतोष झपट लेने के लिए शुरू की जाती है। अन्तरिम अनुतोष का परिणाम यह होता है कि विवाद विषय तब तक के लिए ठंडा हो जाता है जब तक कि उसका अन्तिम रूप से निपटारा नहीं हो जाता और वह वर्षों बाद हो सकता है। यह विशेषतः कर के मामलों में किया जाता है। कर प्राधिकारियों के आदेशों के शुद्धता को प्रश्नगत करते हुए अनेक रिटें फाइल की जाती है या

निर्देश करवाए जाते हैं। यदि मामला ग्रहण कर लिया जाता है तो आगामी कार्यवाहियां स्वाभाविक रूप से रोक दी जाती हैं और सुनवाई दशकों तक रुकी रहती है।[23] ऐसे अनेक मामले हैं जिनमें लोक राजस्व की वसूली गंभीर रूप से संकट में पड़ जाती है और न्यायालयों द्वारा किए गए अन्तरिम आदेशों के परिणामस्वरूप सरकार तथा स्थानीय प्राधिकारणों के बजट पर परावलम्बन की सीमा तक सकारात्मक रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।[24] उच्चतम न्यायालय ने यद्यपि इस परम्परा की निन्दा की है,[25] तथापि उसने इस स्थिति को सुधारने में सहायता नहीं की। ऐसे अनेक मामले हैं जिनमें स्थगन दे दिए जाने के कई वर्षों बाद अंतिम सुनवाई में संकथन या तो तुच्छ या पूरी तरह अपोषणीय पाया गया है और, इस प्रक्रिया में, हानि की पूर्ति करने की किसी अतिरिक्त बाध्यता के बिना कर की वसूली वर्षों तक रुकी रही है।[26] अन्तरिम स्थगन द्वारा, पक्षकार न्यायालयों को प्रदत्त रिट अधिकारिता का अवलंब लेकर न केवल न्यायालय फीस का संदाय करने से बच जाता है, वरन राजस्व विधियों से अनुचित राहत पा जाता है।[27] ऐसे सभी मामलों में, न्यायालय सेवा के ऐसे दुरुपयोग को रोकने के लिए, उच्च दर से न्यायालय फीस संग्रहीत करने का उपाय खोजा जाना चाहिए जिसमें न्यायालय की स्थापना के खर्चे भी आवश्यक रूप से सम्मिलित होने चाहिए। विधि आयोग को यहां इस बात का स्मरण करते हुए प्रसन्नता है कि यह विचार उसका मौलिक विचार नहीं है, वरन उसने यह विचार उच्चतम न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए इन विचारों से ग्रहण किया है कि न्यायालय फीस के उद्ग्रहण का न्याय प्रशासन के खर्च से स्थूल संबंध होना चाहिए, अर्थात् प्रदान की गई सेवा और उद्गृहीत फीस के बीच संबंध होना चाहिए।[28] यह उस मामले में विनिश्चित किया गया था जिसमें न्यायालय फीस अत्यधिक पाई गई थी, किन्तु यही स्थिति विपरीततः भी उतनी सही हो सकती है, अर्थात् जब उद्गृहीत न्यायालय फीस प्राप्त की गई सेवाओं के समानुपातिक हों।

5.21. सादृश्य से कुछ शिक्षा या लाभ लिया जाना चाहिए। किसी विवाद के पक्षकार न्यायालय में जाने के बदले मामले को अपने द्वारा चुने गए मध्यस्थ को निर्देशित करने का विकल्प ले सकते हैं। मध्यस्थ पक्षकारों की सहमति से अधिकारिता प्राप्त करता है। इस प्रकार मध्यस्थ न्यायालय का प्रतिस्थानी है और न्यायालय के कृत्यों का निष्पादन, अर्थात् विवादों का निराकरण करेगा में मध्यस्थ के खर्चे विवाद में पक्षकारों द्वारा या उस पक्षकार द्वारा वहन किए जाते है जिसे मध्यस्थ खर्चों के लिए उत्तरदायी ठहराता है।

वकील

5.22. इसके पूर्व यह बात स्पष्टतः सिद्ध हो चुकी है कि न्याय प्रशासन न्याय के उपभोक्ताओं के फायदे के लिए सेवा है। मुकदमेबाज न्याय के उपभोक्ता हैं जो, न्यायालय फीस के भुगतान के रूप में न्यायालय प्रणाली से प्राप्त सेवाओं के लिए संदाय करते हैं। तथापि, यह एक पहेली है कि वकील, जो न्यायालयों के माध्यम से अपनी आजीविका अर्जित करते हैं, न्यायालय के रखरखाव और संधारण के लिए कुछ भी अभिदाय नहीं करते जिसके बिना उनको आजीविका में औचित्व का अभाव रहता है। कुछ परिदर्शक चिकित्सकों की उपमा दी जा सकती है जो, यद्यपि चिकित्सालय के चिकित्सक नहीं हैं किन्तु वे चिकित्सालय सुविधा का उपयोग करने के लिए चिकित्सालय को कुछ फीस देते हैं। वकील अपने नामांकन के लिए बार काउन्सिल को तो संदाय करते है और न्यायालय को कुछ भी नहीं। अतः अब समय है जब कोई ऐसा उपाय निकाला जाना चाहिए जिससे वकील आय कर के आलावा, जिसका संदाय वे कर रहे हो या न कर रहें हो, न्याय प्रशासन के रखरखाव के लिए अपनी आय का कुछ अनुपात का संदाय करें।

अनुचित समृद्धि

5.23. ऐसी स्थितियां बहुधा उत्पन्न होती है जब राज्य किसी ऐसे उद्ग्रहण का संग्रहण करता है जो बाद में न्यायालय द्वारा अधिकार बाह्य घोषित कर दिया जाता है। कुछ मदों पर विक्रय-कर के उद्ग्रहण के संबंध में न्यायालय द्वारा बहुधा ऐसा किया जाता है। राज्य ने किसी उद्ग्रहण का संग्रहण कर लिया होता है जिसके बारे में यह बाद में यह दर्शित होता है वह उसके लिए हकदार नहीं था। निष्पक्षता और न्याय की यह मांग है कि वह उसे वापिस लौटा दे। उस संबंध में मूल प्रार्थना अप्राप्य होती है। राज्य अविधिमान्य उद्ग्रहण के अधीन संगृहीत रकम प्रतिधारित करने का हकदार नहीं है। यह समस्या न्यायालयों के समक्ष आई है और न्यायालयों ने उसे विभिन्न तरीकों से हल किया है।

5.24. पंजाब एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट की धारा 23 मार्केट कमेटी की अनुज्ञप्ति धारक द्वारा अधिसूचित मण्डी क्षेत्र में लाई या बेची गई कृषि उपज पर यथामूल्य आधार पर फीस उद्गृहीत करने

की शक्ति देती है। यहां फीस 100 रुपये के प्रति संव्यवहार पर 2 रुपये से बढ़ाकर 3 रुपये कर दी गई है इस वृद्धि को इस आधार पर चुनौती दी गई कि वृद्धि प्रदान की गई सेवा के अनुरूप नहीं है। उच्चतम न्यायालय की सांविधानिक खण्डपीठ ने यह ठहराया कि प्रति 100 रुपये पर 2 रुपये से अधिक की वृद्धि प्रदान की गई सेवा के अनुरूप नहीं है। इसके बाद जो प्रश्न उद्भूत हुआ, वह था : क्या मण्डी समितियों को वे अधिक रकमें प्रतिधारित करने के लिए अनुज्ञात किया जाना था जो उसने पहले ही वसूल कर ली थी ? या क्या वे रकमें व्यापारियों को इस तथ्य के होते हुए भी लौटाई जानी थी कि उसने भार पहले ही दूसरे क्रेताओं पर संक्रान्त कर दिया था दूसरे शब्दों में, क्या व्यापारियों को मण्डी समितियों से प्रतिदाय प्राप्त करने और स्वयं को अनुचित रूप से धनाढ्य बनने के लिए अनुज्ञात किया जाना था क्योंकि व्यष्टिक उपभोक्ताओं को, जिसने भार उठाया था, खोजना संभव नहीं था ? अधिनियम में धारा 23-ए अन्तःस्थापित की गई जिसके द्वारा इस आधार पर कि मण्डी समितियों, जो उपभोक्ताओं और जनता के हितों का प्रतिनिधित्व कर रही थी, यह रकम प्रतिधारित कर सकती है और उसका उपयोग जनता के, जिनसे यह संगृहीत की गई थी, फायदे के लिए कर सकती है, उस फीस का, जो पहले ही प्राप्त की जा चुकी थी, प्रतिधारण मण्डी समितियों द्वारा किए जाने को अनुज्ञात किया गया और उसका प्रतिदाय उन व्यापारियों को किए जाने पर रोक लगाई गई जो यह भार पहले ही उन उपभोक्ताओं पर संक्रान्त कर चुके थे जिन्हें खोजा नहीं जा सकता था। धारा 23-ए की सांविधानिक मान्यता को चुनौती दी गई। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 23-ए प्रतिदाय द्वारा, जिसके लिए उसका दावा करने वाले व्यक्ति का कोई नैतिक या साम्यिक हक नहीं है, अनुचित धनाढ्यता को रोकती है। यह मण्डी समितियों के माध्यम से जनता को वह देती है जो उसने जनता से लिया है और उसे शोध्य है। वह अवैध उदग्रहण की विधिमान्य नहीं बनाती। [29]एक अन्य मामलेमें, [30]अदत्त संचयनों, अर्थात् वे प्रतिदाय जो कर्मचारियों को शोध्य हैं किन्तु जिनका उसने द्वारा कंपनी से दावा नहीं किया गया है, के संबंध में यह निदेश दिया गया कि वे उनका उपयोग सामान्यतः श्रमिकों के लिए किए जाने के लिए, श्रम कल्याण निधि में अन्तरित कर दिए जाएं।

5.25. ऐसे सभी मामलों में, यह प्रयास किया गया है कि किसी वसूली के अविधिमान्य ठहरा दिए जाने पर भी, उन व्यक्तियों के पक्ष में प्रतिदाय का आदेश नहीं दिया जाता चाहिए जिन पर उनका कोई नैतिक या साम्यिक हक नहीं है और जो प्रतिदाय आदेशित कर दिया जाने पा अनुचित रूप से धनाढ्य होंगे। ऐसी स्थिति में, विधान मण्डल ने यह युक्ति अपनाई और न्यायालय ने उसकी पुष्टि की कि ऐसी निधियों, अनुचित रूप से धनाढ्य बनाने के लिए लौटाई जाने के बदले संबद्ध क्रियाकलाप से निकटतया संबंधित लोगों के फायदे के लिए उपयोग में लाई जानी चाहिए। किन्तु जटिल समाज में, ऐसे अन्य मामले सतह पर आ सकते हैं जहां मूल दाता को ढूंढना मुश्किल हो और उसका उपयोग सहबद्ध क्रियाकलापों से संबद्ध साधारण जनता के फायदे के लिए करना भी संभव न हो। ऐसे मामलों में, उस धन को राज्य के पक्ष में विनियोजित करने के बदले, उसे "न्यायिक विकास निधि" नामक निधि में अंतरित किया जा सकता है। इस निधि में अंतरित की गई रकम का उपयोग न्यायालय में जनता के लिए बेहतर लोक सेवाओं की व्यवस्था करने और न्यायालयों के प्रशासन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए किया जा सकता है। इस विषय पर इस पहलू से विचार करने के लिए आयोग इस बात से मार्गदर्शित हुआ है कि अनुचित धनाढ्यता के अधिकांश मामले न्यायालयीन कार्यवाहियों से उद्भूत होते हैं। अतः न्यायालयीन प्रक्रिया द्वारा जो उपलब्ध कराया गया है, उसका उपयोग न्याय प्रशासन को सुधारने के लिए किया जाना चाहिए।

5.26. उपसंहार करते हुए, यह कहा जा सकता है कि जिस अव्यवस्थित रीति में न्यायालयों का प्रशासन किया जाता है, उसने भी समस्या उत्पन्न करने में अपना योगदान दिया है। स्टाफिंग पैटर्न, प्रबंध विशेषज्ञों के समावेशन और नई प्रोद्योगिकी से यह सुनिश्चित किया जा सकेगा कि न्यायालय अपने कृत्य अधिक दक्षतापूर्वक सम्पादित करते है। किसी विशिष्ट समय पर, उसकी आवश्यकताएं विस्तृत रूप से परिभाषित और विनिर्दिष्ट होंगे। इससे स्फीत प्राक्कलनों के प्रस्तुत करने को वर्तमान दीर्घ घुमावदार प्रक्रिया और पश्चात्वर्ती सौदेबाजी और तकरार कम होगी। "वित्त परामर्शदात्री समिति" पद्धति प्रारम्भ करने से अधिकारतंत्री अवरोध में कमी आएगी। जीवन सूचकांक के अनुसार तथ्यात्मक निर्धारण द्वारा न्यायालय फीस और जुर्मानों की संगणना और अतिरिक्त संसाधनों के लिए वर्णित विकल्पों के उपयोग से वित्तीय प्रतिबंधों को शिथिल करने में सहायता मिलेगी।

5.27. समग्रतः अवलोकन करने पर, न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन से संबंधित रिपोर्ट[25] के साथ पठित यह रिपोर्ट न्यायालय प्रणाली की स्वविस्तपोषण की व्यवस्थाओं सहित, उसके आधुनिकीकरण की रूपरेखा प्रस्तुत करेगी ।

5.28. हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

हस्ता/-
डी० ए० देसाई,
अध्यक्ष ।

हस्ता/-
वी० एस० रमादेवी,
सदस्य-सचिव ।

नई दिल्ली ,
14 जून, 1988

टिप्पण और निर्देश

अध्याय - 1

1. एलन, लेबर लॉज रिव्यू कमेटी, (गुजरात सरकार) की रिपोर्ट में उदधृत, 4.
2. अनुच्छेद 18,संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा अनुमोदित युनिवर्सल डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइटस.
3. न्यायिक प्रशासन का सुधार पर भारत के विधि आयोग, की 14वीं रिपोर्ट, पृष्ठ 587.
4. एच०टी० रुबिन उदधृत , दि कोर्टस, फुलक्रम ऑफ जस्टिस सिडडम, 1208.
5. भारत का विधि आयोग, न्यायपालिका में जनशक्ति : एक रूपरेखा, 120वीं रिपोर्ट.
6. तदैव, पृ० 1.
7. तदैव, पृ० 3.
8. भारत का विधि आयोग, ए न्यू फोरम फॉर जुडिशियल एपाइन्टमेन्ट्स पर 121 वीं रिपोर्ट.
9. भारत का विधि आयोग, न्यायपालिका में जनशक्ति : एक रूपरेखा पर 120 वीं रिपोर्ट और ए न्यू फोरम फार जुडिशियल एपान्इटमेन्ट्स पर 121 वीं रिपोर्ट.

अध्याय - 2

1. एच टेड रूबिन , दी कोर्टस : फुल्क्रम ऑफ जस्टिस सिस्टम, 13.
2. तदैव.
3. ओ० पी० मोतीवाल, जैन्जिग आस्पेक्टस ऑफ लॉ एण्ड जस्टिस, में उदधृत.
4. तदैव, पृष्ठ 10.
5. एम० केपल्लेट्टी, एक्सेस टू जस्टिस, 6-7 (बुक 1).
6. येल के प्रोफसर वान्स, एम० एच० हास्केट वि० महाराष्ट्र राज्य (1978) 3 एस० सी०सी० 544, पृ० 553 पर उदधृत.
7. यू० बक्षी, जस्टिस और जुडिशियल इन्टरवेन्शन.
8. भारत का विधि आयोग ग्राम न्यायालय पर 114 वी रिपोर्ट.
9. तदैव, अध्याय 6, पृष्ट 31, पैरा 620.
10. शिवाजी राव निलन्गेकर वि० डा० महेश माधव गोसावी, (1987).
11. एम०सी० मेहता वि० भारत संघ (1987) एस० सी०सी० 395.
12. ए० के० हसन उज्जमन वि० भारत संघ,(1982) 2 एस० सी०सी० 218, एल० सी० सेन वि० ए० के० हसन उज्जमन आदि (1985) 4 एस० सी० सी० 689.
13. सादिक अली वि० भारत का निर्वाचन आयोग, ए०आइ० आर० 1972 एस० सी०187.
14. ए आई डी एम के जयललिता और जानकी समूह के बीच विवाद, इण्डियन एक्स प्रेस, 11 मई , 1988, पृ० 4.
15. एस० शेट्रीट, "दि लिमिटस ऑफ एक्सपेडिशस जस्टिस", एक्सपेडिशस जस्टिस, पृ० 15.
16. आर० सी० कपूर वि० भारत संघ, ए० आई० आर० 1970 एस सी 564; के सवानंद भारती वि० केरल राज्य, (1973) 4 एस० सी० सी० 225, आई० सी गोलक नाथ वि० पंजाब राज्य (1967) 2 एस० सी० आर 762, माधव राव सिंधिया वि० भारत संघ ए आई आर 1971 एस सी 530.
17. भारत का विधि आयोग, दि सुप्रीम कोर्ट–ए फ्रेश लुक, पैरा 4.10, पृ० 67.
18. पूर्वोल्लिखित, टिप्पण 15.
19. राजेन्द्र प्रसाद वि० उत्तर प्रदेश राज्य (1974) 3 एस० सी० सी० 646.
20. भारत का विधि आयोग, ए न्यू फोरम फार जुडिशियल एपान्इन्टमेन्टस पर 121 वीं रिपोर्ट.
21. पूर्वोल्लिखित, टिप्पण 15, पृ० 36.

अध्याय - 3

1. के० ई० गोपीनाथ, "कोर्ट रूल्स", के एल टी, 61 (1978).

2. जी० एम० लोधा, भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति राजस्थान उच्च न्यायालय, जुडिशियरी : फ्यूल्स, फ्रेम्स एण्ड फायर, 105.

3. तदैव, पृ० 322.

4. देखिए उपाबन्ध 4, पृ० 8.

5. अष्ठम वित्त आयोग की रिपोर्ट, 1984, 81.

6. पूर्वोलिखित का टिप्पण 4, पृ० 7.

7. उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा प्रस्तुत ज्ञापन.

8. पूर्वोलिखित कर टिप्पण 5.

9. जसवंत सिंग आयोग, उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में अलाहाबाद उच्च न्यायालय की न्यायपीठ की आवश्यकता पर रिपोर्ट.

10. पूर्वोलिखित का टिप्पणण 4 पृ० 6(2).

11. पूर्वोलिखित का टिप्पण 6.

12. पूर्वोलिखित का टिप्पण 4, पृ० 6(4).

13. पूर्वोलिखित का टिप्पण 2, पृ० 106.

14. सप्तम वित्त आयोग की रिपोर्ट, 1978. पृ० 74.

15. पूर्वोलिखित का टिप्पण 5.

16. भारत का विधि आयोग, मेथड्स ऑफ एपाइन्टमेन्ट्स इन सर्बाडीनेट कोर्टस/सर्वाडीनेट जुडिशियरी पर 118 वीं रिपोर्ट और फार्मेशन ऑफ आल इण्डिया सर्विस पर 116 वीं रिपोर्ट.

18. पूर्वोलिखित का टिप्पण 4, पृ० 6(1).

19. आर धवन, दि सुप्रीम कोर्ट अण्डर स्ट्रेन : दि चेलेंज आफ एरियर्स, पृ० 81.

20. विधि आयोग की प्रश्नावली के उत्तर में प्राप्त जानकारी.

21. पूर्वोलिखित का टिप्पण 5.

22. पूर्वोलिखित का टिप्पण 4, पृ० 681.

23. आर० धवन, लिटीगेशन एक्सलप्लोजन इन इण्डिया, पृ० 112.

24. जी० गैल्लास द्वारा उदधृत, "जुडिशियल लीडरशिप एक्सीलेन्स: ए रिसर्च प्रोस्पेक्ट्स" दि जस्टिस सिस्टम जरनल, 31 (43) (1987).

25. जी० एल० गाल, एफीशियेन्ट "एक्सपेडिशस जस्टिस" 107, 111-113.

26. ई० टेनेसी, " आर्कीटेक्चरल एण्ड इलेक्ट्रीकल इन्नोवेशन्स फार इम्पूविंग कोर्ट हाउस एडमिनिस्ट्रेटिव एफीशियेन्सी", 6 सफोक युनिवर्सिटी ला रिव्यू 181,117, (1972).

27. तदैव.

28. तदैव, पृ० 118.

29. तदैव.

30. तदैव पृ० 111.

31. सामान्यतः देखिए पी मिलर, सी० बार, जुडिशियल एडमिनिस्ट्रेशन इन कनाडा, अध्याय 10

32. सी० बार० दि यूस आफ एक्टिस केस फ्लो मनेजमेन्ट टू रिडयूज डिले, 5.

33. पूर्वोलिखित का टिप्पण 4, पृ० 6(3).

34. पूर्वोलिखित का टिप्पण 31, पृष्ठ 236.

35. पूर्वोलिखित का टिप्पण 26, पृ० 1001.

36. पूर्वोलिखित का वाद टिप्पण 81.

अध्याय-4

1. भारत का आयोग, न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन—एक रूपरेखा, 120 वीं रिपोर्ट.
2. भारत का संविधान, अनुच्छेद 112(3) (घ).
3. भारत का संविधान, अनुच्छेद 202(3) (घ).
4. भारत का संविधान, अनुच्छेद 146 (3).
5. भारत का संविधान, अनुच्छेद 229 (3).
6. आर० धवन, लिटीगेशन एक्सप्लोजन इन इण्डिया, 112.
7. ए० आइ० आर० 1973 एस० सी० 1461.
8. ए० आइ० आर० 1951 एस० सी० 458.
9. ए० आइ० आर० 1985 एस० सी० 845.
10. यू० बक्षी, जस्टिस एण्ड जुडिशियल इन्टरवेन्शन.
11. भारत का विधि आयोग, ए न्यू फोरम फार जुडिशियल एपाइन्टमेन्ट्स, 121 वीं रिपोर्ट.
12. पूर्वोलिखित का टिप्पण 6.
13. आन्ध्र प्रदेश राज्य वि० टी० गोपालकृष्णन मूर्ति, (1976) 2 एस० टी० टी 883.
14. एच० एल० विज वि० भारत संघ आई० एल० आर० (1983) 2 देहली.
15. एच० एल० विज वि० भारत संघ आई एल आर पृ० 394-395.
16. उच्चतम न्यायालय कर्मचारी कल्याण संघ वि० भारत संघ और एक अन्य (1986) 2 Scale 124.
17. एस० पी० गुप्ता दि० भारत संघ (1981) सप्ली ० ए० सी० सी० 87 पृ० 915-916 वेंकट रम्मैया, न्याया.
18. भारत संघ वि० संकलचन्द हिम्मतलाल शेठ, (1977) 4 एस० सी० सी० 193.
19. शमशेरसिंह वि० पंजाब राज्य (1974) 2 एस० सी० सी० 831, कृष्णा अय्यर न्या.
20. पूर्वोलिखित का टिप्पण 18, कृष्णा अय्यर, न्या. के अनुसार, पृ० 225.
21. पूर्वोलिखित का टिप्पण 19. कृष्णा अय्यर न्यायालय के अनुसार, पृ० 886.
22. एम० एल० जैन, साल्युशन रिगार्डिंग कोर्ट डिस्पोजल्स एण्ड फंक्शन्स, 71, ए आई आर जरनल 89 पृ० 10(1984).
23. तदैव, पृ० 91.
24. पूर्वोलिखित का टिप्पण 7.
25. भारत का विधि आयोग "ए न्यू फोरम फार जुडिशियल एपान्इन्टमेन्ट्स, 121 वीं रिपोर्ट.
26. भारत का विधि आयोग फार्मेशन आफ एन आल इण्डिया जुडिशियल सर्विस 116 वीं रिपोर्ट.
27. भारत का विधि आयोग "ट्रेनिंग आफ जुडिशियल आफिसर्स" 117वीं रिपोर्ट,

अध्याय-5

1. इण्डिया माइका एण्ड मर्कन्टाइल इण्डस्ट्रीज लिमिटेट वि० बिहार राज्य और अन्य, ए आई आर 1971 एस सी 1182.
2. मद्रास सरकार वि० जेनिय लैम्प एण्ड इलैक्ट्रीकल लिमिटेड ए आई आर 1973 एस सी 724.
3. दिल्ली नगर निगम वि० मोह० यासीन (1983) 3 एस सी सी 229. पृ० 235.
4. भारत का विधि आयोग, न्यायपालिका में जनशक्ति नियोजन : एक रूपरेखा 120 वीं रिपोर्ट.
5. तदैव.
6. तदैव, उपाबन्ध 1(3).
7. देखिए उपाबन्ध 5(1).
8. देखिए उपाबन्ध 5(3).

9. भारत का विधि आयोग, रिफार्म ऑफ जुडिशियल एडमिनिस्ट्रेशन पर 14 वीं रिपोर्ट.

10. देखिए उपाबन्ध 2.

11. दखिए उपाबन्ध 3.

12. विधि मंत्रियों की समिति की रेशनलाइजेशन ऑफ फीस पर रिपोर्ट, अक्टूबर 1984.

13. दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 360.

14. भारत का विधि आयोग, हाइकोर्ट एरियर्स---ए फ्रेश लुक पर 124 वीं रिपोर्ट 41.

15. जीवन बीमा निगम वि० एस्कार्ट्स लिमिटेड (1986) 1 एस० सी० सी० 264.

16. तदैव पृ० 274.

17. तदैव.

18. तदैव पृ० 349.

19. पूर्वोलिखित का टिप्पण 16, अध्याय 2.

20. मार्क गैलेन्टर, भाई दी, "हैव्स" कम आउट अहेड ?
स्पेकु लेशन आन दी लिमिटस आफ लीगल चेंज : ला एण्ड सोसाइटी, (1974).

21. विधि आयोग, ग्राम पंचायत पर 114 वी रिपोर्ट.

22. विधि आयोग, ग्राम पंचायत पैरा 6. 15, पृ० 36.

23. विधि आयोग, टैक्स कोर्टस पर 115वीं रिपोर्ट, पृ० 6.

24. असिसटैन्ट कलेक्टर ऑफ एक्साइज, चन्तर नगर, पश्चिमी बंगाल वि० इनलप इंण्डिया लिमिटेड ए आई आर 1985 एस सी 330 पृ० 333.

25. सिलीगुरी म्युनिसिपैलिटी वि० अमलेन्दु दास (1984) 2, एस सी सी 436 टीटागढ़ पेपर मिल्स कंपनी लि० वि० उड़ीसा राज्य (1983) 2 एस सी सी 433.
भारत संघ वि० ओसवाल वूलन लि० (1984) 2 एस सी सी 646 अमर नाथ वि० पंजाब राज्य, ए आई आर 1985 एस सी 218.

26. लोहिया मशीन लि० वि० भारत संघ (1985) 2 एस सी सी 197.

27. पूर्वोलिखित का टिप्पण 23, पृ० 66.

28. मद्रास सरकार वि० जेनिथ लेम्प इलेक्ट्रीकल लि० ए आई आर 1983 एस सी 1924.
विभिन्न उच्च न्यायालयों ने भी सही मत व्यक्त किया है (देखिए लेडी तानुमती वि० स्पेशल लैण्ड एक्वीलीशन आफिसर अहमदाबाद, 14 जी एल आर 537.

हाल ही में बम्बई उच्च न्यायालय ने यह ठहराया है कि सिविल मामलों के लिए न्यायालय फीस की उच्च सीमा विहित किया जाना किन्तु प्रोबेट और लैटर्स ग्रॉफ एडमिनिस्ट्रेशन के मामलों में कोई न्यायालय फीस विहित नहीं करना, जहां कि प्रदान की गई सेवा न्यूनतम है और व्यय किए गए समय या कार्य सम्पादन में लगाए गए व्यक्तियों को दृष्टि से राज्य संसाधनों पर बहुत कम दबाव है, संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन है। न्यायालय ने, नियमों के तदनुसार पुनरीक्षित किए जाने तक प्रोबेट के मामलों में वही उच्च सीमा नियत की थी। ज्योंति वि० राज्य० ए आई आर 1988 बम्बई 123।

29. अमर नाथ वि० पंजब राज्य, ए० आई० आर० एस० सी० 218।

30. गुजराम राज्य वि० श्री अम्बिका मिस्स, ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1300।

88-M/B(N)621M of LJ&CA—300—24-12-90—GIPS

PLD. 92. CXXVII (H)
300—1989 (DSK-IV)

मूल्य : (देश में) 72 रुपए 50 पैसे, (विदेश में) पौंड 2-15 शि०-10 पै या 4 डालर 35 सेंटस

1990

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, शिमला द्वारा मुद्रित
तथा नियन्त्रक, प्रकाशन विभाग, दिल्ली द्वारा प्रकाशित ।